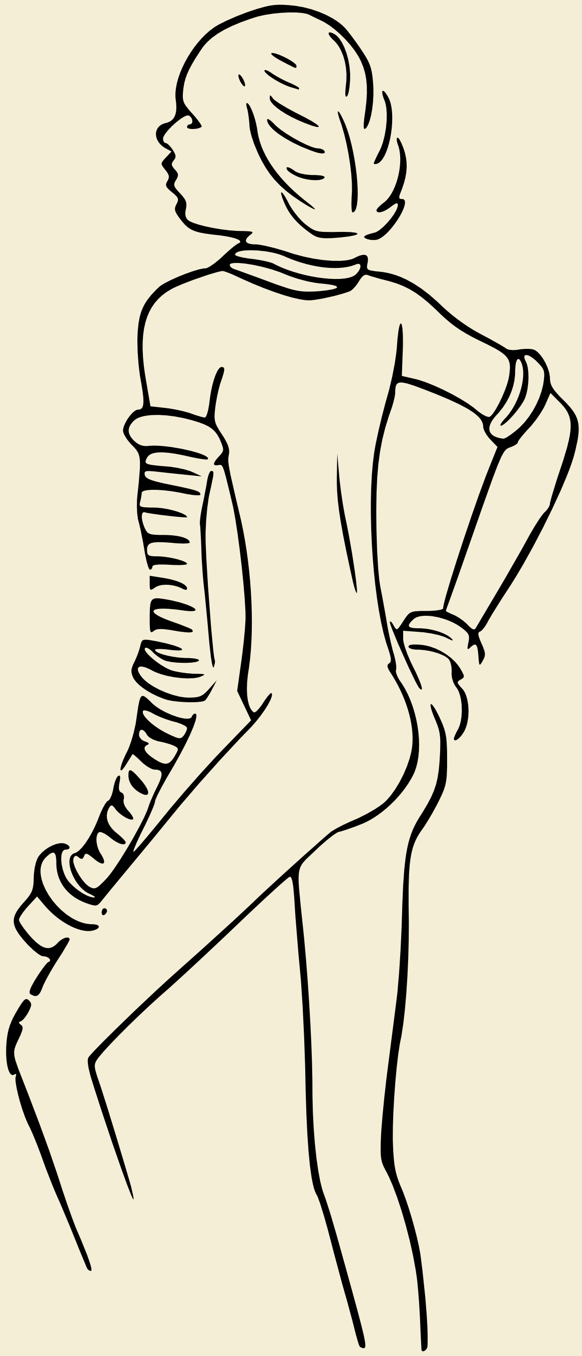
भारतीय मूर्तिकला की कहानी



स्वदेश परिचय-माला

भारतीय मूर्तिकला की कहानी



लेखक

भगवतशरण उपाध्याय

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट : दिल्ली

प्रथम आवृत्ति
अक्तूबर १६५५

चित्रकार
के० सी० आर्यन

मूल्य
एक रुपया चार आना

मुद्रक
हिन्दी प्रिन्टिग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली—६

: १ :

भारतीय मूर्तिकला की कहानी

पूजा और सुख के लिए आदमी ने पुराने जमाने से ही चित्र और मूरतें (मूर्तियां) बनानी शुरू कर दी थीं। क्या भारत और क्या विदेश, सब जगह ऐसी तस्वीरें और मूरतें मिली हैं जिनसे पता लगता है कि पूजा के लिए अथवा खाली समय को बिताने के लिए वह तस्वीरें या मूरतें बनाया करता था। टोना-टोटका तब की पूजा थी। आहार तब का सुख था।

आज से कोई बीस हजार साल पहले तक की तस्वीरें मिली हैं। पहाड़ी गुफाओं की दीवारों पर या शिकार करने के पत्थर, हाथीदांत, हड्डी या धातु के हथियारों पर खिंची हुई हैं। तांबे आदि धातुओं की ऐसी मूरतें भी मिली हैं जो आदमी की शक्ल की हैं और पूजा के काम में आती थीं।

भारत में तो मूरतों की पूजा बराबर होती ही रही है। पुराने समय में दुनिया के सभी देशों में लोग मूरत पूजते रहे हैं। हर जगह बड़ी तादाद में मूरतें मिली हैं। बाहर कई कारणों से मूर्ति-पूजा बन्द हो गई, पर हमारे देश में वह चलती रही और आज भी चल रही है। मजे की बात तो यह है कि आदमी बनैला और नंगा रहा है, बिना घर-

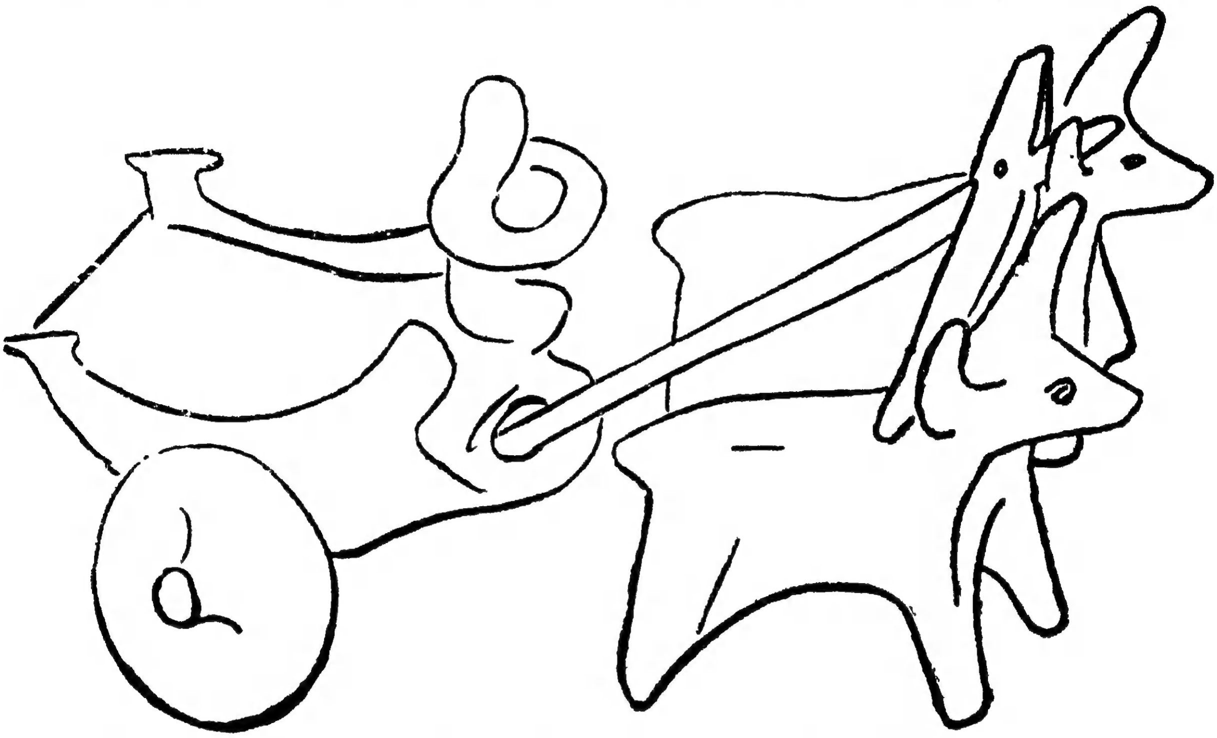
द्वार के बन-बन भटकता रहा है, पर सुन्दर चीज़ें उसे बराबर अपनी ओर खींचती रही हैं। मूरतों का बनना इसी का परिणाम था। यही कला का आरम्भ था।

मूरतें केवल पूजने के लिए ही नहीं बनीं, खेलने के लिए भी बनीं, और आज हमारे पास बहुत प्राचीन काल के लाखों खिलौने मौजूद हैं। खिलौने आदमी, जानवर, चिड़िया, मछली, मगर—सभी शक्ल के हैं जो हाथ के बने हैं या सांचों से ढाले गए हैं। कई बार तो इनकी खूबसूरती मन को बरबस मोह लेती है।



मूरतें धातु से लेकर मिट्टी तक की बनी हैं—सोना, चांदी, तांबा, पीतल, कांसा, रांगा, कांच, लोहा हड्डी, हाथीदांत, रतन, लकड़ी, पत्थर, मिट्टी सभी चीज़ों की। साधारण तौर से घर में पूजा करने या खेलने के लिये गीली मिट्टी की मूरतें पहले हाथ से ही बना ली जाती थीं, फिर उन्हें धूप में सुखा लेते थे या आग में पका लेते थे। बाद में ये सांचे में ढाली जाने लगीं और देखने में काफी सुन्दर भी होने लगीं। इन मूरतों से आज हमारे अजायबघर भरे पड़े हैं। इन मरतों का सिलसिला कई तरह का है और उनकी समझ या जानकारी के लिए उन्हें एक खास

सिलसिले से जानना जरूरी हो जाता है। जैसे किसी मकान को आप नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे देखते हैं, वैसे ही



मूरतों की जानकारी भी समय के सिलसिले से करनी चाहिये। इससे उनका अध्ययन आसान हो जाता है।

काल के विचार से हम अपनी मूरतों को बारह हिस्सों में बांटकर देखेंगे। कुछ ऐसी हैं जो हजारों साल पहले बनीं, कुछ बीच में, कुछ अभी हाल ही में। और पहले-पीछे के इसी समय के सिलसिले को जानकारों ने कुछ नाम दे दिये हैं। ये नाम इतिहास के युगों से बंधे हुए हैं और इनको ध्यान में रखने से प्रगट हो जाता है कि कौन मूरतें किस युग में बनीं, आज से कितना पहले, और उनको कैसे पहचाना जा सकता है या उनका रूप कैसा है।

इस प्रकार के करीब बारह युग समझ लीजिये। वे कब हुए यह तो हम बाद में बतायेंगे, पर उनके नाम आप अभी जान लें —

१. सिन्धु-सभ्यता का युग
२. मौर्यकाल से पहले का युग
३. मौर्य राजाओं का युग
४. शुंग-युग
५. कुषाण-युग
६. गुप्त-युग
७. पूर्व-मध्य-युग
८. उत्तर-मध्य-युग
९. दक्षिण के मन्दिर-मूर्तियां (मन्दिर-मूर्तियों का युग)
१०. वर्तमान युग।

: २ :

सिन्धु-सभ्यता का युग

आज से करीब पांच हज़ार साल पहले कलियुग का आरम्भ माना जाता है। इतिहास इस तरह का तो कोई युग नहीं मानता, मगर जब से कलियुग का आरम्भ माना जाता है तभी भारत में एक ऐसी सभ्यता फैली हुई थी जो संसार की सबसे पुरानी सभ्यताओं में गिनी जाती है। उस सभ्यता को विद्वान् 'सिन्धुघाटी की सभ्यता' कहते हैं। संसार की सभी पुरानी सभ्यताएं नदियों के किनारे ही जन्मीं और बढ़ीं—जैसे मिस्र की सभ्यता नील नदी के किनारे, सुमेर की सभ्यता दजला और फ़रात नदियों के किनारे, चीन की सभ्यता पीली नदी के किनारे। इसी तरह अपने देश की प्राचीन सभ्यता भी सिन्धु, गंगा और नर्मदा नदियों के किनारे पनपी और बढ़ी। हम पहले जिस सभ्यता का हाल अभी लिखने जा रहे हैं वह सिन्धु नदी के किनारे-किनारे दक्षिणी पंजाब, सिन्ध और बलोचिस्तान में फैली। इसी से उसे मामूली तौर से सिन्धु या सिन्धुघाटी की सभ्यता कहते हैं। उस सभ्यता का पता अधिकतर हमें पंजाब में मांटगुमरी ज़िले के हड़प्पा और सिन्ध में लरकाना

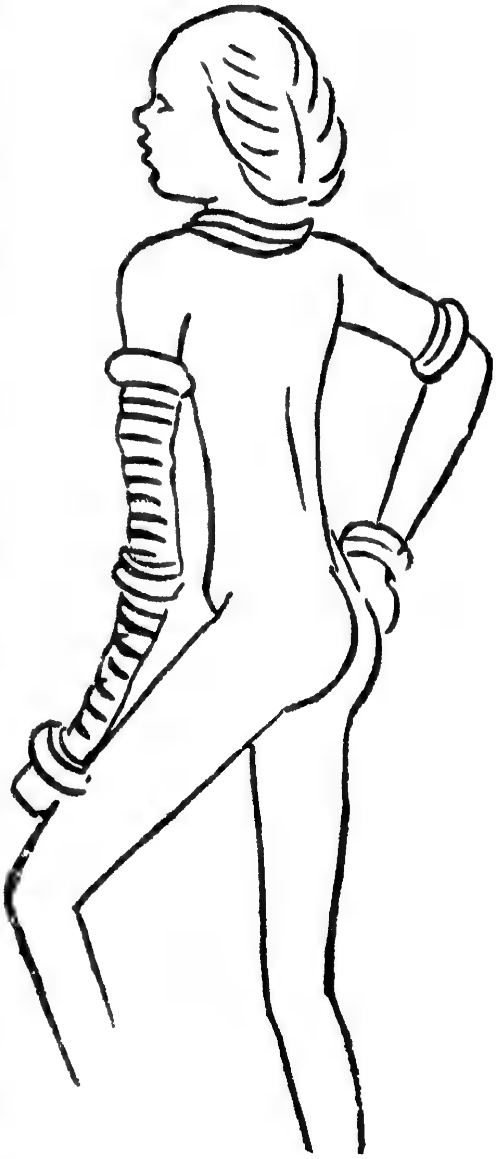
ज़िले के मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से चला है। वहां के टीलों को खोदकर विद्वानों ने शहर के शहर निकाल लिये हैं।

इनसे पता चलता है कि जहां सिन्ध में आज रेगिस्तान फैला पड़ा है, रेत उड़ती है, वहां कभी गेहूँ के खेत लहलहाते थे, हरियाली से ज़मीन ढकी थी। कला-कौशल की विशेष उन्नति नगरों में होती है। और सिन्धु की सभ्यता शहरी थी क्योंकि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा नगर थे। उनमें अच्छी सड़कें थीं जिन पर लगातार दोमंज़िले मकान खड़े थे। ये मकान धूप में सुखाई या आग में पकाई ईंटों के बने थे। नगरों में सफाई का खास इन्तजाम था। गन्दा पानी बहने के लिए नालियां बनी थीं। शहर के लोग बड़े-बड़े तालाबों में नहाते थे। ये तालाब कूएं के जल से भरे जाते थे। लोग चरखे से सूत कातकर उससे करघे पर खादी का-सा कपड़ा बुनकर पहनते थे।

सिन्धु-सभ्यता के रहनेवालों के पास धातुओं, पत्थर और मिट्टी के बने बड़े सुन्दर बर्तन-भांडे थे। मिट्टी के बने मटकों और दूसरे छोटे-बड़े बर्तनों पर मनमोहक चित्र बने रहते थे या कई प्रकार के रंग चढ़े रहते थे। वहां जो हज़ारों की तादाद में धातु, हड्डी, हाथीदांत, रतन, कांच और मिट्टी की मूरतें, खिलौने और ठीकरे मिले हैं उनसे

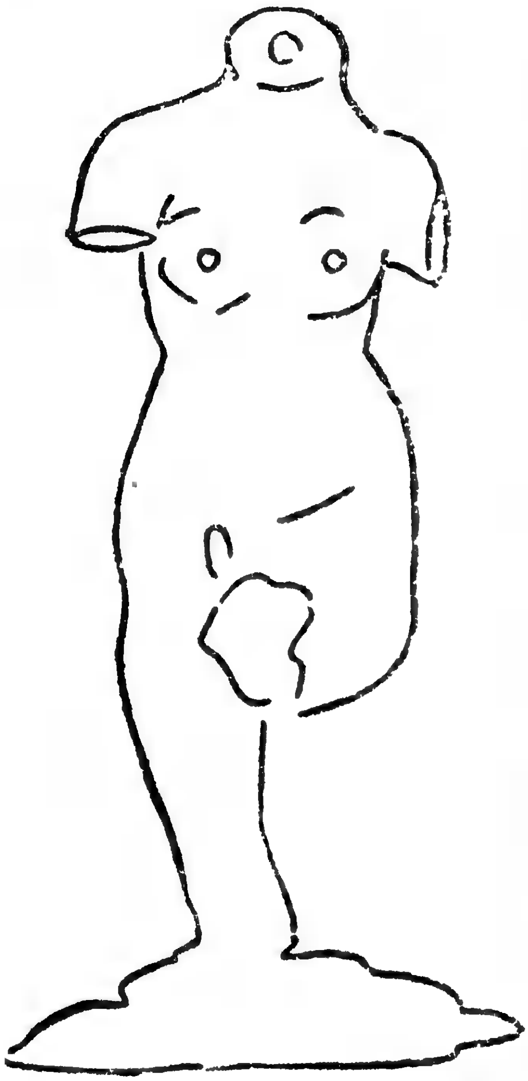
उस सभ्यता के कला-कौशल का पता चलता है। उनकी सुघराई के क्या कहने, सीधे मन को मोह लेती है। आदमी उन्हें देखता ही रह जाता है।

मूरतों में से अनेक तो पूजा के लिए हाथ से या सांचे में ढालकर बनाई गई हैं। अनेक खेलने के लिए। लगता है लोग देवी-देवताओं की मूरतें बनाकर पूजते थे। एक ठीकरे पर तो त्रिशूल से मिलती-जुलती सींगों वाले देवता की मूरत उभरी हुई बनी है। उसके चारों ओर जान-वरों की तस्वीरें खुदी हैं जिससे विद्वानों ने अटकल लगाया है कि वह प्राचीन काल के शिव की मूरत है। उस शिव को सारे पशुओं का स्वामी होने से बाद में 'पशुपति' कहने लगे थे।



उन मूरतों में से कम से कम तीन का यहाँ कुछ जिक्र कर देना जरूरी है। इनमें से एक तांबे की मूर्ति है, कमर पर हाथ रखे नंगी नारी की, शायद नाचनेवाली की। इसका रूप बड़ा सुघड़ है, इसकी सहज सादगी देखनेवालों

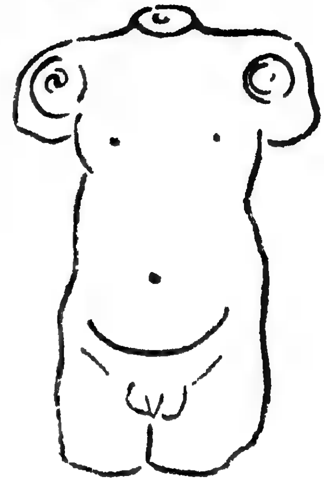
को चकित कर देती है। एक पत्थर की मूर्ति ठीक इससे



भिन्न है, मोटी और टूटी। पर इसका जो हिस्सा बच गया है उससे साबित है कि मूरत नाचने वाले की है। एक पैर ज़मीन पर है दूसरा उठा हुआ है और जैसे वह नाच में चक्कर लगा रही है। तीसरी नीचे से टूटी मूरत मिट्टी-चूने की है, ध्यान में मस्त जोगी की। आँखें आधी खुली हुई हैं, नाक की नोक पर टिकी हुईं। साबित है कि हमारी योग की परम्परा बहुत पुरानी है।

ऊपर हम ठीकरों की बात कह चुके हैं। इनकी संख्या बड़ी है और इनकी किस्में भी बड़ी हैं। इन पर हज़ारों शक्लें बनी हैं, आदमी से लेकर पालतू, बनैले जानवरों तक की। पेड़-पौधों की, जीव और पौधों की मिली-जुली, हाथी, शेर, चीते, गैंडें, हिरन, बकरी, सांड़ आदि अनेक जानवरों की। प्राचीन काल की मूरतों या कला की चीज़ों

में इनका सानी दुनिया में कहीं नहीं है। आकृतियों के अंग-प्रत्यंगों की सुघराई, उनका दमख़म, उनकी आकार की सच्चाई ग़ज़ब की है। महीन से महीन लकीरों से उनकी शक्ल उभारी गई है, बस देखते ही बनता है। इसमें एक सांड़ की शक्ल तो बस अपनी-सी आप है। पांच हज़ार सालों के बीच पुराने ज़माने से आज तक देश-विदेश में जानवरों, बैलों और सांड़ों की हज़ारों-हज़ारों मूरतें गढ़ी गई हैं, ठीकरों पर उभारी गई हैं, पर उनमें से कोई



ऐसी नहीं जो इस मोहनजोदड़ो के सांड़वाले ठीकरे का मुकाबला कर सके। इसकी सुडौल आकृति, बल का गठा रूप देख आदमी अचरज करने लगता है—भला यह मनुष्य की गढ़ी मूरत है। डील पर हाथ रखते ही, लगता है उसके समूचे जिस्म पर सिहरन दौड़ जाएगी।



इन ठीकरों में कुछ मुहरें हैं, ठप्पे हैं, कुछ सांचे हैं, कुछ सांचे बनाने के सांचे, कुछ संवारी कला के नमूने, बस देखने

श्रौर सजाने को बने हैं। इनमें से श्रनेक ठीकरों पर लिखावट भी है जो मछली श्रौर श्रादमी की शक्लों से मिलती है। पर वह श्राज तक पढ़ी न जा सकी। वह जब पढ़ ली जाएगी तब हमारे इतिहास का वह ख़ामोश पन्ना एकाएक बोल उठेगा श्रौर हम श्रपने पुरखों की कितनी ही बातें जान लेंगे।

सिन्धु घाटी की वह शहरी सभ्यता हज़ार-दो हज़ार साल शान से जीकर मर गई। उसे पता नहीं किसने मिटा दिया! शायद श्रानेवाले श्रार्यों ने। श्रार्यों ने, जिन्होंने सिन्धु के नगरों को मिटा उनकी ज़मीन पर श्रपने गावों के बल्ले गाड़े, गांव की श्रपनी सादी सभ्यता रची। श्रार्य श्रपनी धर्म-पुस्तक ऋग्वेद में लोहे के किलों वाले श्रपने काले शत्रुश्रों के नाम दास श्रौर दस्यु बताते हैं। कुछ श्रजब न हो जो उन्हें मोहनजोदड़ो श्रौर हड़प्पा के ईंटों के मकान श्रपने फूस श्रौर मिट्टी के मकानों के सामने लोहे के किलों-से लगे हों।

सिन्धु सभ्यता को सिरजनेवाले इस देश के पुराने निवासी द्रविड़ थे जो श्रार्यों की चोट से धीरे-धीरे हटते हुए दक्षिण चले गए। वे उत्तर में मिट गए, उनकी सभ्यता भी कला-कौशल के रूप में मिट गई। श्रार्यों को कला-कौशल से कुछ विशेष रुचि नहीं थी, इसीसे उस सभ्यता के मिट

जाने के करीब डेढ़-दो हज़ार साल बाद तक आर्यों के लम्बे वैदिक काल के इतिहास में इन मूरतों व ठीकरों की तरह की कोई चीज नहीं बनी। ऐसा नहीं कि मूरतों की पूजा उस काल बिलकुल होती ही न रही हो, पर कला का जो भंडार हमें सिन्ध की उस सभ्यता में मिलता है, करीब दो हज़ार साल बाद तक फिर वह देखने में नहीं आता।

: ३ :

मौर्य-काल से पहले का युग

पहले लिखा जा चुका है कि सिन्धु-सभ्यता के बाद डेढ़-दो हज़ार वर्ष तक मूरतों की दुनिया में अकाल-सा पड़ गया। पर उनका एकदम लोप भी नहीं हुआ क्योंकि मौर्य-काल से पहले के युग की काफ़ी तादाद में मूरतें मिलती हैं, यद्यपि ये अधिकतर मिट्टी की हैं, पूजा या खेलने के लिए बनाई हुईं। मौर्य-काल के पहले के भी, यानी आज से कोई ढाई हज़ार साल पहले के भी मिट्टी के ठीकरे या हाथ से बनाई मूरतें मिली हैं जो मौर्य-काल के ठीकरों या खिलौनों से मिलती हैं। वास्तव में तो कुछ अंश में मौर्य-काल के ठीकरे इन्हीं पुराने ठीकरों के प्रसार भी हैं।

पर उस काल की महत्त्व की मूरतें पत्थर की हैं, आदमक़द से कहीं ऊँची, आठ-आठ बारह-बारह फीट तक की, मोटी-चिपटी-चौड़ी, जिन्हें देखकर दैत्य-दानव का बोध होता है। हैं भी ये दैत्य-दानवों की-सी अथवा देवताओं की जिन्हें 'यक्ष' कहते थे। यक्ष-देवता, गन्धर्व आदि की ही तरह आदमी से भिन्न जाति के मानकर पूजे जाते थे। हमारे अजायबघरों में हज़ारों की संख्या में इनकी मूरतें

भरी पड़ी हैं। यक्ष बाद में देवताओं से हटकर भूतों की श्रेणी में आगए और भूतों की ही तरह वे आदमियों को लगने भी लगे। इनकी कथाओं से हमारी हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी पुस्तकें भरी हैं। इस नए युग में पत्थर की मूर्तियां इन्हीं यक्षों की हैं। इनमें से दो तो मथुरा के अजायबघर में रखी हैं और जिन गांवों में पाई गई हैं उन्हीं के नाम पर पारखम और बरोदा यक्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे तीन कलकत्ते के अजायबघर में हैं। एक यक्षिणी की विशाल मूर्ति ग्वालियर के बेसनगर में मिली थी। जो कलकत्ते में ही है और ऐसी ही एक दूसरी नारी-मूर्ति 'मनसा देवी' के नाम से आज भी मथुरा में पूजी जाती है। कुछ लोगों ने इनको मौर्य राजाओं से पहले के शिशुनाग और नन्द वंश के राजा अजातशत्रु उदायीभद्र और नन्दिवर्धन की मूर्ति माना है। पर वे भ्रम में हैं, क्योंकि उन्हें ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। प्राचीन काल में अपने देश में राजाओं की मूर्तियां बनाने की प्रथा न थी, अधिकतर पूजने के लिये ही मूरतें बनती थीं। मिस्र, बाबुल आदि में जरूर पूजने के लिए राजाओं की मूरतें बनती थीं। भारत में पहलेपहल विदेशी कुषाणों ने अपनी मूर्तियाँ आदमकद की या उससे भी बड़ी बनवाईं। इसी से चन्द्रगुप्त, पुष्यमित्र आदि राजाओं की मूर्तियां नहीं बनीं। फिर यक्षों की मूरतों की पूजा की

परम्परा तो सदा जीवित रही है। इससे इनको यक्ष ही मानना चाहिए। इनका आकार भी आदमी के आकार से बहुत बड़ा है। यक्षिणियों तक की मूरतें भी छः फीट से ज्यादा ऊँची हैं। इनकी आकृति भोंडी है, भारी-भरकम, बग़ैर किसी दमखम के। उपासना के लिए डर और रौब पैदा करना ही इनका उद्देश्य है। शुरू की मूर्तियां होने के कारण ही विकसित न होने से ये भोंडी हैं। अभ्यास से कला में जब निखार आता है तब वह सुघड़ बनती है। तभी ये यक्ष की मूर्तियां कला के उत्तम नमूने नहीं कहीं जा सकतीं।

मौर्यकाल से पहले का युग शैशुनागों और नन्दों का था। शैशुनाग राजघराने के ही राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु थे जो महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर के समय हुए थे। नन्दों में आखिरी राजा महापद्मनन्द था। वह शूद्र था, क्षत्रिय राजाओं का संहार करने वाला। नन्द और उसके पुत्र सिकन्दर के समकालीन थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दों का नाश कर मगध में मौर्य नाम का अपना नया राजवंश चलाया।

: ४ :

मौर्य राजाओं का युग

चन्द्रगुप्त मौर्यों के पंचायती राज का एक क्षत्रिय था, जो धीरे-धीरे मगधराज नन्द का सेनापति होगया था। चाणक्य की सहायता से उसने पाटलिपुत्र की गद्दी नन्दराज से छीन ली। यह आज से कोई सवा दो हज़ार साल पुरानी बात है, बुद्ध के मरने के क़रीब डेढ़-पौने दो सौ साल बाद की।

चन्द्रगुप्त के गद्दी पर बैठने के कुछ ही साल पहले मकदूनिया के राजा सिकन्दर ने पंजाब जीता था। उससे कुछ पहले जब भगवान बुद्ध हमारे देश में शान्ति और प्रेम का प्रचार कर रहे थे तभी ईरानियों ने पच्छिमी पंजाब और सिन्ध को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। यहां से उनका तब बड़ा घना सम्बन्ध जुड़ गया था।

भारत सदा से दूसरों से सीखता और उन्हें सिखाता रहा है। विदेशियों से सम्बन्ध होने से उसने बराबर उस सम्बन्ध का लाभ उठाया है। यही कारण है कि वह प्राचीन संसार में इतना ऊँचा उठ सका था। जब-जब उसका बाहरवालों से सम्बन्ध हुआ है, तब तब उसकी शिल्प-कला में, साहित्य-ज्ञान में नई लहर मौज मारने लगी। ईरा-

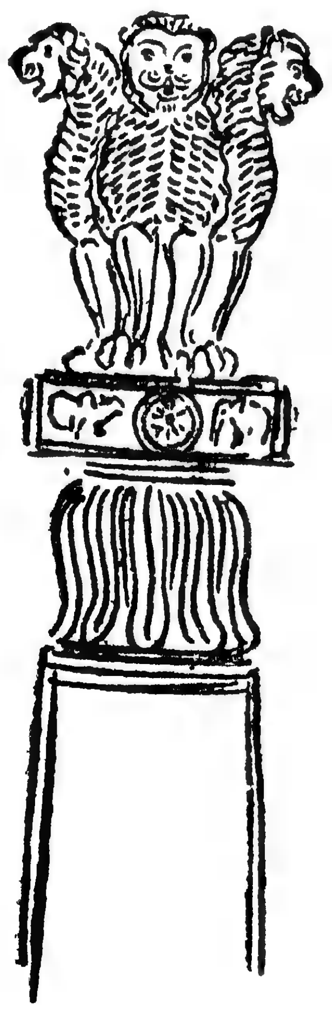
नियों से भारत के सम्बन्ध का भी बड़ा गहरा ग्रसर पड़ा। ईरान तब बाबुल, खल्द ग्रौर ग्रसर देश की मूर्तिकला ग्रपना चुका था। उन्हीं देशों से लगी स्वयं ईरान के दक्षिण में भी एक प्राचीन ऊँची सभ्यता जन्मी ग्रौर फैली थी। विशाल सांड़ ग्रादि जानवरों की पालिशदार मूर्तियों के बनाने में तब का ईरान दुनिया में ग्रपना सानी नहीं रखता था। ग्राज भी उसकी सांड़, शेर, बिल्ली ग्रादि की ग्रचरज की मूरतें ग्रमेरिका में



शिकागो ग्रादि के ग्रजायबघरों में रखी हैं जिनकी पालिश में ग्रादमी ग्रपना मुँह देख सकता है ग्रौर जिन पर हाथ रखते ही उंगलियाँ फिसल पड़ती हैं। ढाई सौ बरस बाद बनने वाली ग्रशोक के समय की जानवरों की मूरतों पर इनका खासा ग्रसर पड़ा है।

ऐसा नहीं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय भारत में शिल्पकला न रही हो। उसके पटना वाले महल को ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ ने देखा था। उसने उसके खम्भों पर चढ़ी सुनहरी-रूपहली बेलों-लताओं और ऊपर बैठाई सुन्दर चिड़ियों का बखान किया है, पर चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने जिस मूर्तिकला का अपने देश में आरम्भ किया वह भारत में न पहले थी, न पीछे हुई। उसकी सुघराई, अनोखी बनावट, निखार सभी बेजोड़ हैं। ईरानी राजाओं की ही तरह अशोक ने भी अपनी प्रजा की जानकारी के लिये कुछ विचार, कुछ उपदेश चट्टानों और लाटों पर खुदवाए जो अपने नमूने आप हैं। ईरानी और उनसे पहले के असुर, बाबुली और मिस्री राजाओं ने लाटों और चट्टानों पर अपनी कीर्ति खुदवाने की चलन चलाई थी, अशोक ने उनके ज़रिये अपना यश फैलाने की जगह प्रजा के कल्याण के उपदेश लिखवाये। उन पुराने राजाओं की विजयों के खूनी बयानों को अशोक ने अपने मन से अलग कर दिया। कलिंग की लड़ाई में जो संहार हुआ था उससे उसके दिल को बड़ी चोट पहुँची थी और वह बुद्ध का भक्त हो गया था। तब से उसने बराबर जीव-जीव में प्रेम और दया के बर्ताव का उपदेश दिया। यही उपदेश उसने चट्टानों और लाटों पर खुदवाये।

खुरदरी चट्टानों को रगड़कर चिकना कर लिया गया, उनपर पालिश फेर दिया गया। गया के पास बराबर की गुफाएँ मौर्यकाल की ही बनी हैं। अजन्ता की कुछ गुफाएँ भी तभी पहाड़ की चट्टानें तोड़कर बनीं। पर अशोक के बनवाए कला के लासानी नमूने तो वे लाटें हैं जिनकी मिसाल दुनिया में दूसरी नहीं हैं। हजार-हजार मन भारी, चालीस-चालीस, पचास-पचास फीट ऊँची पत्थर की लाटें देश में अनेक स्थानों पर खड़ी हुई हैं। उनकी चिकनाहट देखने



वालों को लोहे धातु की बनी लाटों का धोखा हो जाता है। उनके मस्तक पर सिंह, हाथी, सांड़ आदि की मूर्तियाँ बैठी हुई हैं, जीती-जागती मूर्तियाँ, जिनकी पालिश में आप अपना मुँह देख लें, जिनकी चिकनाहट पर हाथ रखते आपकी उंगलियाँ फिसल जायं, जिनकी उभरी हुई नसें जानदार होने का भ्रम पैदा कर दें।

इनमें सारनाथ की लाट का मस्तक गजब का है। ऊपर पीठ से पीठ लगाये चार सिंह बैठे हैं, मौर्यकाल के कलावन्तों की जादूगरी

के नमूने। इन पर चक्र हैं, हंस हैं, दौड़ते घोड़े, हाथी हैं, सांड़ हैं। यह चक्र उसकी याद में बना जो बुद्ध ने धर्म के रूप में चलाया था, धर्म का चका, धर्म के रथ का पहिया जो चिरकाल तक शान्ति और प्रेम का सन्देश लिये धरा पर चलता रहा था। वही चक्र आज हमारे राष्ट्रीय झंडे पर है, वही चारों सिंहोंवाला अशोक की सारनाथ की लाट का मस्तक आज हमारे देश के राजकीय कागजों की मुहर है।



मौर्यकाल की ये मूर्तियां अपनी पालिश और चिकनाहट से, अपनी सजीव चेष्टा और रूप से झट पहचानी जा सकती हैं। यह पालिश देश की कला में न पहले थी, न पीछे चली। शायद शुंग-काल तक पहुँचते-पहुँचते वह कला मर गई। एक विशालकाय चंवरधारिणी मूर्ति पटना के अजायबघर में रखी है। उसे कुछ लोग अशोक से सौ साल बाद के शुंगकाल की बताते हैं। वह

पालिश की दिशा में शायद इस तरह की आखिरी मूरत है। वह स्वयं कला के रूप में लासानी है। ज़रा झुकी अखंडित-पूरी वह नारी की मूरत अपने अंगों की पुष्ट भरावट, खड़े होने के ढंग, काट-तराश की सुघराई में अपनी-सी बस आप है। है भी शायद असल में वह मौर्यकाल की ही।

मौर्य युग के हज़ारों मिट्टी के ठीकरे और खिलौने भी मिले हैं। ठीकरे सांचे से ढाले हुए हैं। इनका सामना चौड़ा-चिपटा है, इनमें उभरी जनानी शक्लों का घघरीदार पहनावा मनोहर है। ऊपर छाती ऊँची-चिपटी है, कमर बिलकुल पतली, कमर के नीचे जांघ के ऊपर का भाग भारी। कला में इन ठीकरों की परम्परा बहुत दिनों इस देश में चलती रही।

मौर्य लोग बड़े निर्माता थे। चन्द्रगुप्त ने तो अपना इतना विशाल और सुन्दर महल बनवाया ही था जिसे ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ ने ईरानी शुषा और एकबताना के महलों से सुन्दर कहा था। स्वयं अशोक ने भी उस महल के रहते अपना अलग महल बनवाया। उस महल को चीनी यात्री फ़ाह्यान ने सात सौ साल बाद पटना में खड़ा देखा था। उसे देखकर उसने अनुमान किया कि आदमी ऐसा महल नहीं बना सकता, निश्चय इसे दैत्यों ने बनाया है। पर यहाँ हम उस काल के महलों, मन्दिरों या स्तूपों का

बयान नहीं कर रहे हैं। केवल मूर्तियों का हाल लिख रहे हैं। देवताओं की मूरतें बनती थीं और मन्दिरों में पथरायी जाती थीं। इन मन्दिरों का उल्लेख चाणक्य ने अपनी पोथी 'अर्थशास्त्र' में किया है, पर आज न तो वे मन्दिर खड़े हैं, न उनकी मूर्तियां मिली हैं। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का मंत्री था।

: ५ :

शुंग-युग

ब्राह्मण-क्षत्रियों में, पुरोहित-राजाओं-यजमानों में बहुत पुराने ज़माने से झगड़ा चला आता था। यह झगड़ा मौर्यों के पहले भी चला, बाद में भी चलता रहा। शुरू में जब ब्राह्मण चाणक्य ने क्षत्रिय चन्द्रगुप्त की मदद कर उसको मगध की गद्दी पर बैठाया तब चन्द्रगुप्त उसका एहसान मानता हुआ आज्ञाकारी बना रहा। तब ब्राह्मण-क्षत्रिय या पुरोहित-यजमान का विरोध भी दबा रहा। पर जब अशोक ने ब्राह्मण-ग़ैरब्राह्मण सबको बराबरी का दर्जा दे दिया, जानवरों को बलि देने की प्रथा उठाकर यज्ञ वगैरह बन्द कर पुरोहिती दक्षिणा उठादी, संस्कृत की जगह जन-भाषा पाली को राजभाषा का स्थान दिया, तब फिर ब्राह्मण-क्षत्रियों में लड़ाई ठन गई। तभी ब्राह्मणों के सिरमौर और पाणिनिय के व्याकरण पर 'महाभाष्य' लिखने वाले पतंजलि भी थे। वे मौर्यों के आखिरी राजा बृहद्रथ के सेनापति और पुरोहित पुष्यमित्र शुंग के गुरू भी थे। पुष्यमित्र ने बग़ावत कर बृहद्रथ को उसकी सेना के सामने ही मार डाला और मगध में अपने ब्राह्मण-कुल का शासन जमाया। यही कुल

इतिहास में शुंग-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शुंगों के बाद मगध के राजा कण्ड-कुल के हुए। फिर दक्षिण के सात वाहन कुल के। ये सबके सब ब्राह्मण-कुल थे जिन्होंने क्षत्रियों से लड़ाइयां लड़ीं। पुष्यमित्र ने फिर से ब्राह्मण धर्म, यज्ञ-हवन आदि की प्रतिष्ठा की, संस्कृत को फिर राजभाषा बनाया, दो-दो अश्वमेध किये जिनमें महामुनि पतंजलि ने पुरोहित का काम किया। पर बौद्धों द्वारा चढ़ाकर लाये विदेशी ग्रीकों को हरा कर पुष्यमित्र जो उनसे चिढ़ा तो उसने पटना से जालन्धर तक के बौद्ध मठों और बिहारों को जला दिया। परन्तु एक बार शत्रुओं का नाश कर चुकने के बाद उसने उनके धर्म या विश्वास पर किसी तरह का आघात नहीं किया। उसके साम्राज्य में बौद्ध और जैन लोग अपने स्तूप और मन्दिर बनवाते रहे, उसने कभी उन्हें न छेड़ा, शान्ति और प्रेम का उनसे बरताव किया।



उसके और उसके वंशजों के समय जो बौद्धों के स्तूप बने



वे शिल्प और कला के विशाल नमूने बने। मौर्य युग की ही भांति शुंग युग भी कला के क्षेत्र में इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। अपने विस्तार और तरह तरह के रूपों में तो वह शायद मौर्य-काल से भी आगे बढ़ गया।

शुंग-युग का आरम्भ अशोक के करीब सौ बरस बाद हुआ था। उस काल भी पत्थर और मिट्टी दोनों की मूरतें बनीं। ये चारों ओर से कोरकर या पत्थर पर खींच और काटकर या उभारकर बनी हैं। मिट्टी के ठीकरे बहुत कुछ मौर्य युग के ठीकरों से मिलते-जुलते हैं। पर इस काल के ठीकरों पर की खाली जमीन खाली नहीं रहने दी जाती, फल बिखेरकर भर दी गई है। शकलें पत्थर और मिट्टी दोनों में



पहले-सी ही चपटी-चौड़ी हैं। पहनावे में एक विशेषता आगई है जिसमें शुंग काल की मूरतें आसानी से पहचानी जा सकती हैं। इनमें एक तो सामने दो गांठोंवाली पगड़ी है, दूसरी उनके पैरों के बीच धोती का तिकोना छोर नीचे

की जमीन को छूता है। मौर्य काल की पालिश तो इस काल में नहीं मिलती, पर जहां-तहां चिकनाहट मिलती है। मामली तौर पर मूरतें खुरखुरी हैं। पर पत्थर के कढ़ाव का काम बहुत बढ़ गया है।

शुँग-युग में सहसा मूर्तियों की बाढ़-सी आ जाती है। देवी-देवताओं की मूर्तियां, यक्ष-यक्षिणियों की मुर्तियां, बौद्ध-जैनों के प्रतीकों की मूर्तियां, मन्दिरों-स्तूपों पर अलंकार और प्यार की मूर्तियां, रेलिंगों पर की मूर्तियां हमारे अजायबघरों में भरी पड़ी हैं। हिन्दू देवी-देवता—विष्णु, शिव, ब्रह्मा, बलराम, इन्द्र, कुबेर, लक्ष्मी आदि जन्म चुके थे और हिन्दुओं की देखादेखी बौद्ध धर्म के शिल्प में भी तथागत बुद्ध के अनुचर, उपासक आदि की तरह बनाये जाने लगे थे। शिव की पूजा तो बहुत प्राचीन है ही, पाणिनिय के व्याकरण से पता चलता है कि वासुदेव कृष्ण, अर्जुन आदि को भी विष्णु का अवतार मानकर लोग पूजने लगे थे। विष्णु-पूजा का सबसे प्राचीन प्रमाण ग्वालियर राज्य के बेसनगर में खड़ा गरुड़ध्वज है। यह विष्णु की महिमा में खड़ा किया स्तम्भ या लाट है। इसके ऊपर की गरुड़ की मूर्ति तो अब नहीं मिलती पर, उसके लेख से पता चलता है कि यह लाट पिछले शुंग राजाओं के शासनकाल में बनी थी और उसे शुंगराज के पास आनेवाले पच्छिमी

पंजाब के ग्रीक राजा अन्तलिखिद के दूत हेलियोदोर ने खड़ा किया था। स्पष्ट है कि विदेशी भी भारत में आकर यहाँ के देवताओं को पूजने लगे थे।

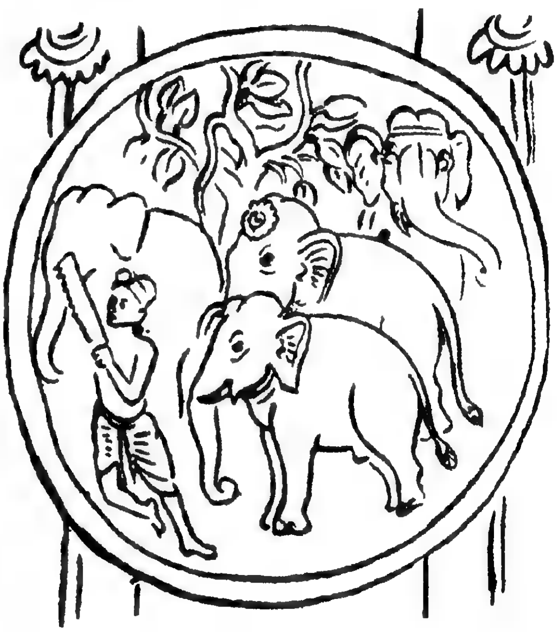
अभी बुद्ध की मूर्ति नहीं बनी थी क्योंकि बुद्ध ने अपनी मूर्ति बनाने के विरुद्ध आदेश दिया था। कला में बुद्ध की उपस्थिति उनके व्यवहार की चीजों या उनके सम्बन्ध की वस्तुओं की शकल बनाकर बतायी जाती थी, जैसे उनकी पगड़ी, छत्र, पैरों की छाप, धर्म का चक्का घुमाते हुए हाथ, बोधि-वृक्ष (पीपल), जिसके नीचे उन्हें ज्ञान मिला था, आदि। इन्हीं चीजों की पूजा करते हिन्दू देवता दिखाए गए हैं जिन्हें बौद्धों ने भी अपना लिया है। उस काल की जिनकी मूर्ति भी तो नहीं मिलती, पर इसमें सन्देह नहीं कि तब तक और बुद्ध की मूर्ति से पहले ही जिन (शायद महावीर ही) की मूर्ति बन चुकी थी। मौर्यों के पहले के राजा नन्दिवर्धन के कलिंग जीतकर वहां से जिन की मूर्ति पाटलिपुत्र उठा ले जाने की बात पिछले मौर्य काल या शुंगकाल में होने वाले राजा खारवेल ने अपने हाथीगुफा वाले लेख में लिखी है। वह कलिंग (उड़ीसा) का राजा था और उसने पाटलिपुत्र से वह मूर्ति लौटाकर अपने राष्ट्रीय अपमान की लाज धोई थी।

यक्ष-यक्षिणियों की मूरतों का ज़िक्र पहले कर आए

हैं। उनका बनना तो मौर्य काल से भी पहले शुरू होगया था, पर शुंग-युग में तो उनकी कोई गिनती ही न थी। शुंग और उसके बाद के कुषाणकाल में यक्षों और यक्षिणियों की मूरतें नंगी, अधनंगी, अनेक भावभंगियों के साथ सुन्दर वेश में खड़ी तथा हाथी, मनुष्य-बौनों पर अनन्त संख्या में चढ़ी पत्थर में काटी गईं। यक्षिणियों का सम्बन्ध अक्सर वृक्षों और लताओं से रखा गया है। पेड़ की शाखाओं को पकड़े अधिकतर वे खड़ी हैं, इससे अनेक बार कला के जानकार उन्हें शालमंजिका भी कहते हैं। गहने खूब पहनती हैं, सिर के बाल मोतियों और रत्नों की लड़ियों से ढके रहते हैं, बाहें और पैर चूड़ियों, भुजदण्डों, और कड़ों से भरे। आकृति चिपटी-चौड़ी मुस्कुराती हुई। जब तब सिर पर शुंग किस्म की पगड़ी। इन यक्ष-मूरतों से भरहुत स्तूप के रेलिंगों के खम्भे भरे पड़े हैं, मानो जी उठे हैं।



स्तूप एक प्रकार की यादगार हैं, बुद्ध या जिन के जीवन की किसी घटना की यादगार। यादगार के रूप में वे ईंट या पत्थर के ठोस बने होते हैं और बाबुली 'जगुरथ' से बहुत मिलते हैं, कुछ अजब नहीं जो इनकी चलन बाबुली 'जगुरथों' के अनुकरण में यहाँ हुई हो। कुछ स्तूप खोखले भी होते हैं, वह इसलिए कि उनमें बुद्ध या उनके चेलों की हड्डियां, भस्म आदि रखी जाती थीं। दोनों तरह के स्तूपों का पत्थर की रेलिंगों का एक घेरा होता था। इन रेलिंगों के खम्भों और पड़ी पट्टियों पर अलंकरण के लिए अनेक प्रकार की सुन्दर खुदाई हुई है, पुरुष या नारी-मस्तक की, फूले



कमल की, अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे जानवरों-परिन्दों की। शुंगकाल के इन रेलिंगों की बड़ी महिमा है। उन पर बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएं, अशोक आदि राजाओं के जलूस, तालाब, उनमें खिले कमल आदि कटे हैं जो अपनी गति और सजीवता से मन को मोह लेते हैं। भरहुत और सांची के रेलिंग अपनी कला-सम्पदा में बेजोड़ हैं।

सांची के पास ही शुंगों की बपौती ज़मींदारी की राजधानी विदिशा थी जहाँ के हाथीदांत के कारीगर प्रसिद्ध थे। उन्होंने ही सांची के कटाव किये हैं। स्तूप के चारों ओर रेलिंग वाले तोरण-द्वार हैं जो अपनी विशालता और मूरतों से असाधारण शालीन बन गए हैं। भरहुत के रेलिंग तो आकृतियों की सुरूपता में सांची के रेलिंग से भी बढ़ गए हैं। साँची और भरहुत के स्तूप तो पहले, शायद मौर्यकाल में ही बनकर तैयार हो गए थे, पर उनके रेलिंग शुंग काल में बने। सांची भोपाल के पास है और भरहुत इलाहाबाद और जबलपुर के बीच नागोद में है।

शुंग-कला के केन्द्र पाटलिपुत्र (पटना), सांची और भरहुत तो थे ही, काशी के पास के सारनाथ, इलाहाबाद जिले के कौशाम्बी और भीटा, बुद्ध गया, मथुरा, बेसनगर और सुदूर दक्खिन में जग्गमपेट भी थे। वहां पत्थर की मूरतों के अलावा मिट्टी के असंख्य ठीकरे मिले हैं जो अपनी सुन्दरता और अनेकता में अकेले हैं। उनसे मथुरा, लखनऊ, और इलाहाबाद के अजायबघर भरे पड़े हैं। नारी-पुरुषों के जोड़े, पिकनिक करते लोगों के नाच-रंग, पुरानी रोमैंटिक कथाएँ, गांव-नगर के दृश्य इन पर अभिराम खुदे पड़े हैं। इन मिट्टी के खिलौनों पर ज़रा-सी जगह तक खाली नहीं रहने दी गई है। खिलौनों में विशेष उल्लेखनीय मेढ़ें, मगर

और भेंड़ें या बैलजुती गाड़ियाँ हैं—अद्भुत सुन्दर, साँचे में ढलीं जैसी फिर पीछे कभी न बन सकीं और इनकी संख्या सैकड़ों-हज़ारों में नहीं, लाखों में है। कौशाम्बी के एक ठीकरे पर तो उदयन के साथ वासवदत्ता के उज्जैनी से कौशाम्बी भागने की कथा बड़ी सुन्दरता से खुदी है। उदयन बड़ा प्रेमी राजा था, बुद्ध का समकालीन। वीणा खब बजाता था, वीणा बजाकर हाथी पकड़ा करता था। एक दिन उसके शत्रु अवन्ती के राजा ने धोखा देकर उसे कैद कर लिया। फिर उसने जो उसे अपनी बेटी वासवदत्ता को वीणा सिखाने के लिये नियुक्त किया तो राजकुमारी उस पर रीझ गई। एक रात दोनों हथिनी पर चढ़कर भाग गए। उनका पीछा किया गया, उसी का चित्र उस ठीकरे पर खिंचा है। राजा को पकड़े वासवदत्ता बैठी है, तेज़ चलने के लिए हथिनी पर अंकुश का प्रहार हो रहा है। पीछा करने वालों को भरमाने के लिए पीछे बैठे-नौकर ने सोने के सिक्कों से भरा तोड़ा खोल दिया है। ठीकरा भारत-कला-भवन काशी में सुरक्षित है।

: ६ :

कुषाण-युग

नन्दों के समय सिकन्दर ने पंजाब पर हमला किया था। साथ ही उसने बलख भी जीता था, जहाँ पीछे छटे हुए ग्रीकों ने अपना राज्य कायम किया था। वह राज्य वहाँ करीब दो सौ साल चला। उसका महत्व भारत के लिए विशेष था, क्योंकि बलख के ग्रीकों ने सिन्ध और पंजाब को जीतकर उन पर शासन किया था, वहाँ अपने नगर बसाये थे, अपना रंगमंच खड़ा किया था, अपने नाटक खेले थे और भारतीय रीति-रिवाज, साहित्य-कला, ज्ञान-विज्ञान को प्रभावित किया था। भारत में आकर उन्होंने भारतीय धर्म भी अपना लिया था। इनमें से कई शुंगों के समय ही थे और उनमें से एक मीनान्दर को पुष्यमित्र ने हराया भी था।

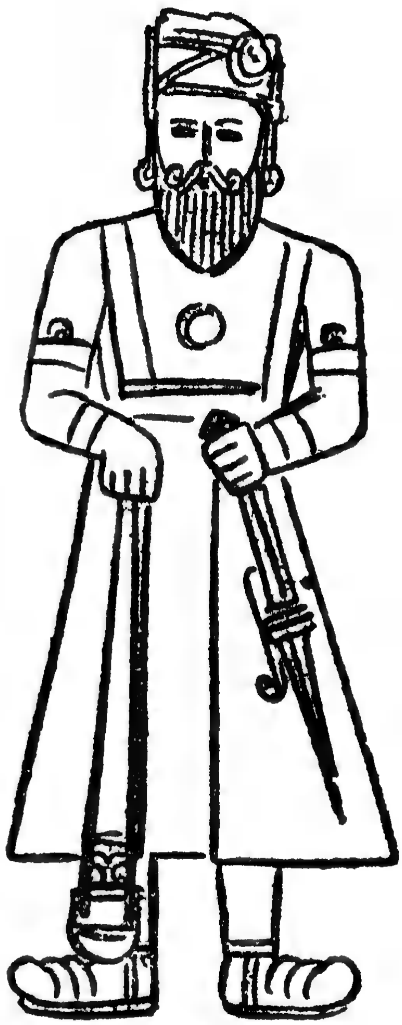
तभी कुछ और विदेशी जातियों ने भारत पर राज्य किया। इनमें से एक तो ईरानी थे जिन्हें हिन्दू पार्थव या पह्लव कहते थे, दूसरे शक। शकों का भारत पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैनी, महाराष्ट्र---पाँच-पाँच जगह अपने केन्द्र बनाकर राज्य किया।

उनके सम्पर्क से भारतीय ज्योतिष को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्हें पहले तो मालवों ने हरा दिया और दक्खिन के आन्ध्र-सातवाहनों से भी उनकी घनी लड़ाइयां हुईं, पर जैसे-तैसे वे उधर बने रहे और आखिरी बार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उनका बल तोड़ दिया।

आंध्र-सातवाहन मौर्यों-शुंगों के समय ही दक्खिन में प्रबल होने लगे थे और कृष्णानदी की घाटी से उठकर सारे दक्खिन भारत पर समुद्र से समुद्र तक वे छा गए थे। उनका सबसे प्रबल राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि था। सातवाहन भी शुंगों की ही भाँति ब्राह्मण थे। उत्तर में शुंगों के बाद मगध के राजा फिर ब्राह्मण कण्व हुए थे और अन्त में दक्खिन के सातवाहनों ने उनसे मगध का राजदण्ड छीन लिया था। उनके बाद शक आये और उन्होंने उत्तर भारत का राज्य सातवाहनों से छीन लिया था। ग्रीक दिमित की ही तरह शक अम्लाल पाटलिपुत्र तक चढ़ आया था और वहाँ उसने बड़ी मारकाट की थी।

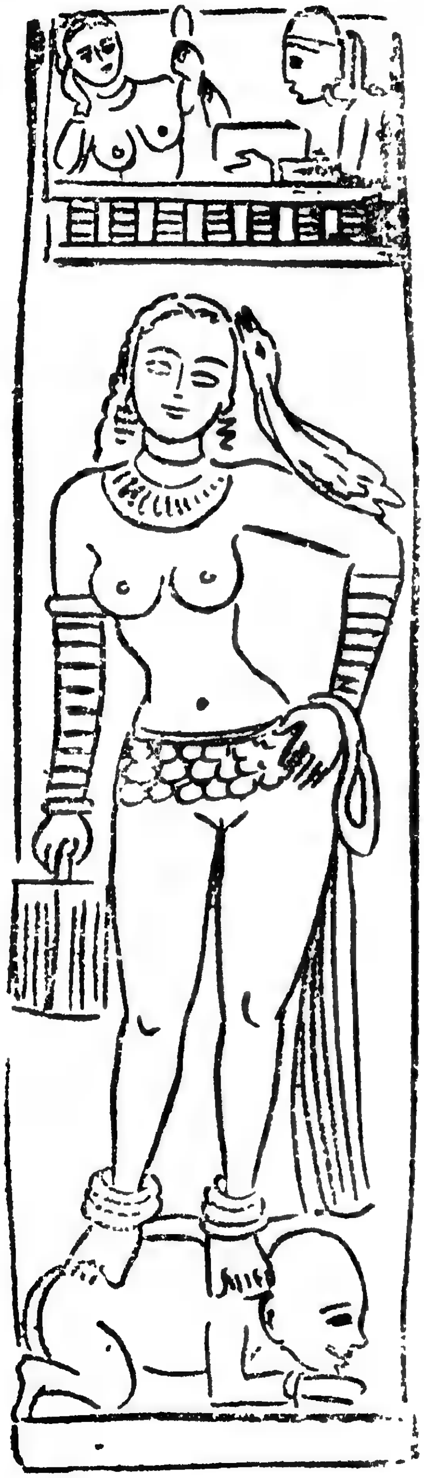
उन्हीं दिनों चीन के उत्तर-पच्छिम में बसने वाली युहूची (ऋषीक) नाम की एक प्रबल जाति ने बलख और पूर्वी ईरान, काबुल और कश्मीर जीत लिया। इनमें पाँच छोटी जातियाँ थीं। जिनमें प्रबल 'कुषरण' कहलाती थी। पाँचों ने मिलकर अपना नाम 'कुषाण' धारण किया। इस कुषाण

जाति का सबसे महान् राजा कनिष्क था। उसने सारा मध्य-प्रदेश जीत लिया, पटने तक। वह बौद्ध था और उसने भी अशोक की ही तरह बौद्ध-धर्म का प्रचार कराया। उसके दरबार में बड़े-बड़े बौद्ध पंडित और साहित्यकार थे। शायद प्रसिद्ध वैद्य चरक भी तभी हुआ और वह नागार्जुन भी जिसने बौद्धों का महायान सम्प्रदाय चलाया। महायान हिन्दुओं के भक्ति सम्प्रदाय से प्रभावित था और बुद्ध को अपना आराध्य देवता मानकर चला था। बुद्ध के पिछले जन्मों को महत्व दिया गया। उन जन्मों के बुद्ध को बोधिसत्व



कहा और उन्हें पूजा। बोधिसत्व उस जीव को कहते हैं जो बाद में बुद्ध हो जाय। महायान सम्प्रदाय के चलते ही बोधिसत्वों की मूरतों से देश भर गया। बुद्ध की मूर्ति भी तभी पहले-पहल बनी और फिर अनन्त संख्या में बनती चली गई। कुषाण-काल इस तरह भारतीय मूर्ति-कला के लिये बड़े महत्व का सिद्ध हुआ। लाखों मूर्तियां तब यहां

बनीं और देश कला के प्रतीकों से भर गया। मथुरा, सार-



नाथ, अमरावती और नागार्जुन कोंडा कुषाण-कला के केन्द्र हुए, जहां से मूर्तियां बन-बनकर देश में फैलीं। पहले कहा जा चुका है जब-जब भारत विदेशी जातियों के सम्पर्क में आया, जब-जब वे जातियां यहां बसीं और यहाँ की जातियों से घुली-मिलीं, तब तब भारतीय संस्कृति और कला को नई शक्ति, व नई दिशा मिली। ईरानी, ग्रीक, शक सभी अपना सर्वस्व इस धरा को अर्पण करते हुए इसमें समा गये और अब कुषाणों ने भी वह आचरण किया।

उस काल पच्छिम में इटली देश में एक नया साम्राज्य कायम हुआ था, रोम का, जिसने करीब-करीब सारा यूरोप और सारा पच्छिमी एशिया जीत लिया था। रोम का पहला सम्राट् आगुस्तुस था। उन्हीं दिनों यहूदियों

के देश जूदिया(फिलिस्तीन) में नजरथ के एक बढ़ई के लड़के ने प्रेम और भाईचारा का घूम-घूम कर प्रचार करना शुरू किया । उसने आनेवाले कंगालों के खुदाई राज की भविष्यवाणी की, जिससे यहूदी और रोमन सम्राट्, दोनों चिढ़ गए । अपने विचारों के लिये उस बढ़ई के लड़के को जुरूसेलम में शूली पर चढ़ना पड़ा, पर वह उस पर हँसता हँसता, मरते समय भी अपने मारने वालों के अपराध के लिये भगवान् से क्षमा मांगता, चढ़ गया । उसका नाम ईसा था । ईसा के अहिंसक निहत्थे चेलों और विशाल रोमन साम्राज्य में युद्ध छिड़ गया । बड़े बलिदानों के बाद ईसा का धर्म जीता और रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम में ही ईसाई धर्म-पिता 'पोप' का आसन जमा जो आज तक कायम है । ईसा के पहले अशोक ने उधर ग्रीक राजाओं से सम्पर्क बढ़ाया था और बौद्ध-धर्म का प्रचार उधर भी हुआ था । निश्चित है कि अहिंसा, दया और प्रेम का वह भारतीय सन्देश ईसा पर भी अपना प्रभाव डाले वगैर न रहा । ईसा का जन्म संसार के लिये बड़े महत्व का था । और बातों के अलावा ईसा के समय से एक संवत् चला जिसका प्रचार आज संसार के सभी सभ्य देशों में है । हम भी उसका प्रयोग करेंगे । ईसा कनिष्क के ही युग में हुए

थे और उनका ईस्वी संवत् कनिष्क के चलाये शक संवत् से कुछ ही पहले चला था।

यहां कुषाण-कला पर लिखने से पहले गांधार शैली पर दो शब्द लिख देना उचित होगा। गांधार-शैली भारतीय मूर्ति-कला का एक नया ढंग है, नई पद्धति है। शुरू यह कुषाण-काल में ही पच्छिमी पंजाब में हुई और इसका विस्तार ईस्वी पहली सदी से पांचवीं सदी तक माना जाता है। इस शैली की मूरतें तीखे यूरोपीय नक्श में बनी हैं, इनके कपड़े लहरदार हैं। अनाड़ी से अनाड़ी भी



इन्हें देखते ही कह देगा कि ये भारतीय नहीं हैं और इनकी शक्लें यूरोपीय हैं। हजारों की तादाद में स्लेट पत्थर की ये मूर्तियाँ पंजाब और अफ़गानिस्तान में मिली हैं। इनमें हजारों बुद्ध की मूर्तियां हैं, हजारों उनके जीवन की घटनाओं के पत्थर पर खुदे हुए दृश्य हैं।

ज़ाहिर है कि इन्हें तैयार करने वालों की छेनी ग्रीक थी। भारत की सीमा पर और सिन्ध-पंजाब में करीब दो

सौ साल तक ग्रीकों का राज्य रहा था। उन्होंने वहां अपनी साहित्य-कला को विकसित किया, पर स्वयं उनकी कला भारतीय संस्कृति की चेरी बन गई। भारतीय अभिप्रायों को उन्होंने ग्रीक छेनी से, ग्रीक शैली से संवारा और अंकित किया। इसी से उस गांधार कला का रूप तो ग्रीक है, पर उसके विषय—प्राण भारतीय हैं। उसका केन्द्र तक्षशिला थी जो गांधार प्रदेश की राजधानी थी ग्रीकों का मरक़ज़ी मुकाम और इसी से उस कला को गांधार कला कहते हैं। यह कला ग्रीकों की भारतीयों को देन है। बुद्ध की पहली मूर्ति शायद उसी कला ने बनाई। कितनी अद्‌भुत संस्कृति वह अपनी थी जिसने उस क्षेत्र में अपना-पराया कुछ न माना, बुद्ध की मूर्ति को उदारता-पूर्वक स्वीकार किया और उसकी लाखों मिसालें, बाद में गढ़ दीं, मिसालें जो बराबर सुन्दर से सुन्दर बनती गईं।

: ७ :

मथुरा शैली

गांधार शैली कुषाण-युग की देशी-विदेशी, मिली-जुली शैली थी, मथुरा शैली शुद्ध भारतीय थी। कुषाणों की केन्द्रीय शैली मथुरा में ही फली-फूली। काल के अनुसार उसका विस्तार ईसा की पहली सदी से तीसरी सदी तक है।

वैसे तो टेकनीक के विचार से मथुरा की कला सांची और भरहुत की ही विस्तृत शाखा है, पर कुषाणों की आकृतियों का चिपटापन इतना खलता नहीं। प्राचीन चिपटापन अब धीरे-धीरे अंडाकार हो चला है। यद्यपि पूरा अंडाकार हुआ नहीं है, पर अंडाकार होने के रस्ते में हैं। उनका उभार स्पष्ट है।

मथुरा में जैनों और बौद्धों, दोनों के स्तूप हैं। इनके चारों ओर रेलिंग (वेदिका-वेष्टनी) दौड़ती थी। इन पत्थर के रेलिंगों के खम्भों और दौड़ती बाड़ों पर अनन्त अभिप्राय, जानवरों-फूलों की आकृतियां, अलंकरण, मूर्तियां उभरी हुई हैं। नंगी-अधनंगी, नाचती, फूल तोड़ती, नहाती, सुग्गे से खेलती, बाजा बजाती, गेंद उछालती, दोहद (अशोक को

प्रफुल्लित करने के लिए नूपुर पहने बायें पैर से मारना) करती नारियों की अद्भुत, अभिराम, स्वाभाविक, असंख्य अलंकरण वाली मूर्तियां बनी हैं। वहां नारी को कला-



कार ने सभी रूपों में देखा है, उसके अल्हड़पन, हाव-भाव-विलास को बहुत पास से निहारा है। जीवन इन कला की आकृतियों, अभिप्रायों, अलंकरणों में उमड़ पड़ा है।

एक दूसरा वर्ग यक्ष-यक्षी मूर्तियों का है। पहले



शुंगकाल के यक्ष-यक्षी देवता की तरह दूर से मनुष्य के प्रति कल्याण से मुस्कराते उनसे अलग-से थे। अब ये प्रायः मनुष्यों के अपने हो जाते हैं। यक्षों के राजा कुबेर की मूर्ति भी इस युग में खूब बनी है। ठीक बनिये-सा पेट निकाले वह बैठता है। हाथ में उसके रुपयों का तोड़ा होता है जिसका आकार नेवले-बोने-सा होता है। यक्षी मूर्तियां अधिकतर नंगी या झीना वस्त्र पहने मानव बौने पर खड़ी रहती हैं। कमनीय नारी मूर्ति जो पुरुष-मानव को उसकी तृष्णाओं के रूप में कुचले दे रही है और नारी रूपी अपनी तृष्णाओं के भार से मनुष्य कुचला जा रहा है, उसकी

आंखें और जीभ निकली जा रही हैं, वह अपनी तृष्णाओं के मान में बौना हो गया है।

तीसरा वर्ग बौद्ध मूर्तियों का है। बौद्ध सम्प्रदाय के देवताओं की इतनी मूर्तियां मथुरा में कुषाण काल में बनी हैं कि अगर उसे बौद्ध काल कहा जाय तो कुछ बेजा न होगा। त्रिचिदर (तीन वस्त्र—अधोवस्त्र यानी धोती, उत्तरासंग, यानी ऊपर का कपड़ा और संघाटी, यानी ओढ़ने वाला शाल-सा लहरिया वस्त्र) पहने खड़े बुद्ध की मोटाई-ऊँचाई, चिपटापन-वगैरह पुराने विशाल यक्षों से हैं, पर उनका लहरिया शाल गाँधार शैली से मिलता-जुलता है। फिर भी उसके बल और लहरें हलकी होती जा रही हैं और इस प्रकार उनके भारतीयकरण का प्रयास जारी है। इस प्रकार के खड़े बुद्ध मथुरा, लखनऊ, इलाहाबाद और सारनाथ के अजायबघरों में अनेक हैं। मथुरा-कला में बोधिसत्वों की मूरतें भी असंख्य बनीं। बोधिसत्व बुद्ध के पहले जन्मों का वह रूप है जिसे बाद में बुद्ध होना है। ये मूरतें कल्याण पूर्वक मुस्कुराती, गहने पहने खड़ी या बैठी हैं। इनके अलावा जातक कथाओं की अनेक कहानियां भी उस कला के पत्थरों पर खुदी हैं।

बौद्धों की ही भांति जैनों की भी अनन्त मूर्तियाँ कुषाण-काल में बनीं। मथुरा की जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों से



मथुरा और लखनऊ के अजायबघर भरे पड़े हैं। अनेक खड़ी मूर्तियां चौखम्भी हैं, चारों दिशाओं में जिन की मूर्तियां



हैं। बैठी मूर्तियां भी अनेक हैं। बुद्ध और जिनों की मूर्तियाँ, विशेषकर बैठी हुई एक-सी ही लगती हैं। अन्तर बस इतना है कि जहाँ बुद्ध की मूर्तियाँ वस्त्र पहने होती हैं, जिनों की नंगी होती हैं। यह अन्तर न हो तो दोनों को एक-दूसरे

से आसानी से अलग करना कठिन हो जाय।

यह मथुरा की कुषाण-कालीन मूर्ति-सम्पदा इतनी है कि उसके बयान के लिये एक पूरी पोथी चाहिये। यहाँ संक्षेप में उसकी ओर इशारा भर किया गया है। फिर भी दो-एक मूर्तियों का हवाला अलग से भी दिया जा सकता है। इनमें से एक तो काफी ऊँची मूर्ति श्री (लक्ष्मी) की है, जो लखनऊ के अजायबघर में रखी है। अपनी सजीवता और सुन्दरता में वह अद्भुत है। दूसरी प्रसाधिका की मूर्ति काशी के कला-भवन में है। वह सिर पर रत्न और फूल के गजरों से भरी एक पेटिका लिए हुए है। प्रसाधिकायें अभिजात महिलाओं की अनुचरी होती थीं। उनका काम अपनी स्वामिनी के शृंगार में मदद करना होता था। नाग और नागी मूर्तियों की भी मथुरा-कला में बहुतायत है। जाहिर है कि इनकी पूजा तब प्रचलित थी। मथुरा के अजायबघर में कुषाण-काल की बनी अत्यन्त सुन्दर शृंगी ऋषि की एक मूर्ति है जिसने दशरथ का पुत्रेष्ठि यज्ञ कराया था। ऋषि ने नारी पहली बार देखी है और विस्मय से पहली ऊंगली होठों पर जा पहुँची है, आंखों की पुतलियाँ घूम गई हैं। ऊपर पगड़ी में सामने शायद सींग बने हैं। मथुरा की सूर्य की एक मूर्ति भी बड़ी विलक्षण है। वह सूर्य की पहली भारतीय मूर्ति है। छोटी पगड़ी,

कुषाण राजाओं की अचकन और घुटनों तक मध्य एशियाई बूट वह पहने हुए है। कमर से खंजर लटक रही है। सूर्य की मूर्ति भारत में बहुत पीछे बनने लगी थी। सूर्य की पूजा शकों ने भारत में प्रचलित की और उसकी पूजा के लिये मग ब्राह्मणों और शकद्वीपी ब्राह्मणों को बाहर से बुलाया। इसी कारण इस सूर्य-मूर्ति की शैली सर्वथा विदेशी और अभारतीय है। इसी काल वासुदेव कृष्ण के चरित की



घटनाएं पत्थर में काटी जाने लगीं। ऐसी एक घटना मथुरा की एक पट्टिका पर खुदी है, जिसमें वसुदेव शिशु-कृष्ण को लिये जमुना लांघ रहे हैं।

एक वर्ग की मूर्तियां ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। ये कुषाण राजाओं या उनके रिश्तेदारों की हैं। इन्हीं में बिम, कनिष्क और चष्टन की हैं। कनिष्क की मूर्ति मस्तकहीन है। उसके नाम का पता उस पर खुदे लेख से चलता है। हाथ में तलवार और राजदण्ड है। इन सभी मूर्तियों का पहनावा विदेशी है, अचकन, सलवार, बूट। ये सब देवकुल

नाम के गांव से मिली हैं। देव तब राजा को कहते थे। लगता है देवकुल कुषाण राज-घराने की मूर्ति-गैलरी था।



कुषाण वस्तु-खण्डों में ऊपरी चौखट और निगस्तों को अद्भुत आकृतियों से सजाते थे। तोरण तो अत्यन्त सुन्दर होते थे, अधिक-तर वे मगर की शक्ल के होते थे। मगर की आकृतिवाली नालियाँ भी उस काल होती थीं जिनके कई नमूने लखनऊ के अजायबघर में रखे हैं। द्वार के बाजू के खंभों पर दोनों ओर एक के ऊपर एक कटे खानों में प्रसाधन या शृंगार करती नारियों की आकृतियां बनी मिलती हैं, अत्यन्त आकर्षक। संस्कृत साहित्य जैसे उनमें मूर्त हो उठा है।

कुषाणकालीन मिट्टी की मूरतों की ओर संकेत किये वगैर यह प्रसंग खत्म करना मुनासिब न होगा। इन मिट्टी के ठीकरों, बौनों, खिलौनों आदि को भी उस कला में

अनन्त संख्या है। पुरुष-स्त्री के जोड़े, किन्नर-किन्नरियाँ, सभी एक से एक सुन्दर बने हैं।



मथुरा की मूर्तियाँ एक खास पत्थर की बनी हैं—लाल पत्थर की, जिन पर सफेद छींटनुमा धब्बे पड़े हैं। कुषाण-कला में आकृतियाँ अभी चिपटी ही हैं, पर शुंगकालीन आकृतियों से कहीं अधिक उभरी। मुँह कुछ चौड़ा होता है, आकृति भारी, कुछ रूखड़ी होती है, पर अत्यन्त सुघड़।



विशेषकर नारी मूर्तियाँ बड़ी कमनीय, नारीत्व का आकर्षण लिये हुए। उनकी केश सज्जा पहले और पीछे की मूर्तियों से भिन्न है। सामने लौटे हुए बालों की गोल बनावट होती है। और नीचे से दोनों ओर बाल पीछे को खींच लिये गए होते हैं। चिपटी-चौड़ी करधनी भी उस काल का एक परिचायक चिन्ह है। बुद्ध और जिन की बैठी मूर्तियों में

पैरों के उलटे हुए तलवे और उंगलियां कुछ लकड़ी की-सी चिपटाहट लिये हुए हैं।

ब्राह्मण धर्म के कुछ देवताओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ यह साफ़-साफ़ कह देना उचित होगा कि तब तक विष्णु के अतिरिक्त शिव के फैले परिवार की पूजा होने लगी थी। शिव, गणेश, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, दुर्गा आदि, और सप्तमातृकाओं, सातों पर चढ़ी जमुना की मूर्तियाँ पहले-पहल कुषाणकालीन कला में ही मिलती हैं।

: ८ :

दक्खिन की कुषाण-कला

जिन दिनों उत्तर में कुषाण-कला फल-फूल रही थी उन्हीं दिनों दक्खिन में कला आंध्र-सातवाहनों की संरक्षा में फैल रही थी। आंध्र लोग प्राचीन काल से ही बड़े निर्माता रहे थे। वे अपने गुफा-मन्दिरों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। शुंगकाल में ही उन्होंने पच्छिमी घाट और कोलाबा में गुफाएं कटवाई थीं, अब कुषाण-काल में उन्हीं के प्रोत्साहन से कार्ली, कन्हेरी और नासिक की गुफाएं खुदीं। परन्तु उनके चमत्कारी निर्माण गुंटूर जिले में कृष्णा-नदी के किनारे हैं—अमरावती और नागार्जुन कोंडा के स्तूप।

अमरावती में ईसा से प्रायः दो सौ साल पहले बौद्ध स्तूप बना था। ईसा से प्रायः दो सौ साल बाद उस ईंट के स्तूप की संगमरमर की दोहरी पट्टियां चढ़ा दी गईं। साथ ही स्तूप को संगमरमर के रेलिंग से घेर दिया गया। यह घेरा सांची के रेलिंग की ही तरह कला का आश्चर्य है। अत्यन्त सुरुचि का काम उस पर हुआ है। उसको खूब सूरत बनाने के लिए जिन अभिप्रायों का इस्तेमाल किया

गया है उनकी कारीगरी अत्यन्त सुन्दर है। स्तूप की पट्टिकाओं पर भी छोटे-छोटे सुन्दर स्तूपों की आकृतियां उभारी गई हैं। और बुद्ध की खड़ी मूर्तियां एक असाधारण जीवन लिए हुए हैं। उनकी पूजा में जो नारी मूर्तियां नतमस्तक हैं उनकी कमनीयता अकथनीय है। बाद में आबू पर्वत के दिलवारा के जैन मन्दिर में भी संगमरमर का काम हुआ है, अनेक अभिप्राय और डिजाइनें बनी हैं, पर वह काम फूहड़-सा है। उसके मुकाबले अमरावती का निहायत सोफियाना है, देखते ही बनता है। नागार्जुन कोंडा भी उससे ज्यादा दूर नहीं है। वहां भी हाल ही में प्राय: तभी का स्तूप मिला है जिसकी बनाबट की सफ़ाई और आकृतियों की सुन्दरता सराहनीय है।

: ६ :

गुप्त-युग

गुप्त-युग की कला भारतीय कला की चूड़ामणि है। भारत के पांच हज़ार वर्षों का इतिहास उसकी कला की अनेक मंजिलें प्रस्तुत करता है, एक से एक बढ़कर, एक से एक ऋद्ध। पर आकृतियों की सुघराई, अभिप्रायों की रुचि, अलंकरण की शोभा, कला की सादगी में सारे भारतीय इतिहास में गुप्त-कला लासनी है। कुषाण-कला किन तीर्थों से होकर गुप्त-कला की सुकुमारता और सामर्थ्य तक पहुंची है यह इतिहास का विषय है, पर उस ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा।

कुषाणों के पिछले काल में मध्य भारत में एक प्रबल राष्ट्रीय शक्ति उठी। उसके तीन केन्द्र थे, भिलसा (मध्यभारत), ग्वालियर के पास पदमपवाया और मिर्जापुर के पास कंतित। उसके नेता नागवंशी क्षत्रिय थे। वे शिव के भक्त थे और पीठ पर शिवलिंग धारण करते थे। इसी से उनका नाम ही भारशिव नाग पड़ गया। उन्होंने विदेशी कुषाणों से भारत को मुक्त करने का बीड़ा उठाया

और उन्हें ईस्वी तीसरी सदी के आरम्भ में बार-बार हराकर अश्वमेध किया। काशी में दस बार उनके अश्वमेध करने से ही वहां के प्रसिद्ध पवित्र घाट का नाम दशाश्वमेध पड़ा। इन्होंने एक विशेष प्रकार के मन्दिर-शिखर का चलन किया जो नगर कहलाता है। इनके बनवाए नागोद भूमरा के शिव का रूप देखते ही बनता है। आकृति पूरी अंडाकार होगई है।

धीरे-धीरे नागों का अधिकार मध्य भारत के ब्राह्मण राजा वाकाटकों के हाथ में आगया। नागों और पीछे गुप्तों ने भी वाकाटकों को अपनी बेटियां दीं। वाकाटकों में प्रवरसेन प्रबल सम्राट् हुआ। वाकाटकों के बनवाये भूमरा के पास के नचना के शिवमन्दिर और खोह के शिव असाधारण दर्शनीय हैं। धीरे-धीरे उत्तर में गुप्त प्रबल हुए और समुद्रगुप्त ने नागों की सम्मिलित शक्ति कौशाम्बी की लड़ाई में तोड़ दी। नागों का संहारकर उसने दक्खिन तक के राजाओं पर विजय की। पर वाकाटकों का राज्य बना रहा। उनसे विवाह-सम्बन्ध कर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उनसे मैत्री स्थापित की और इस प्रकार शकों को जीतने के लिये राह तैयार की।

वैसे तो गुप्तवंश का आरम्भ गंगा-यमुना के द्वाब में तीसरी सदी के अन्त में होगया था। उसकी शक्ति का आरम्भ

३२० ई० के आसपास चन्द्रगुप्त प्रथम ने किया। उस वर्ष उसने प्रसिद्ध गुप्त-संवत् चलाया। समुद्रगुप्त उसी का बेटा था और गुप्त सम्राटों में सबसे महान् शकारि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य उसका पोता। कुमारगुप्त के समय गुप्तकला का चरम विकास हुआ। उसके बेटे स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के समय चीन के हूणों ने रोमन-साम्राज्य की ही भांति गुप्त-साम्राज्य को भी तोड़ डाला। स्कन्दगुप्त अपने तप और बलिदान से भी उनसे देश की रक्षा न कर सका। करीब ईस्वी ३०० से ६०० तक का काल गुप्त-युग कहलाता है। उसी बीच संस्कृत के महाकवि कालि-दास भी हुए थे। गुप्त-युग में साहित्य और कला की अद्भुत उन्नति हुई। अजन्ता और बाघ गुफाओं के जग-प्रसिद्ध चित्र भी तभी बने थे। साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला के क्षेत्र में गुप्तों का सा कुछ नहीं है। उनके सोने के सिक्के सिक्के ढालने की कला में बेजोड़ हैं। धातु की ढालाई का अनुमान हमें उस काल की कुर्किहार की तांबे, पीतल और कांसे की मूर्तियों से लगता है। दिल्ली में कुतुब की लाट के पास ही चन्द्रगुप्त की बनवाई लोहे की लाट आज डेढ़ हजार साल से धूप और वर्षा में खड़ी रही है, पर उसपर उनका कोई असर नहीं हुआ।

गुप्तकाल में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों धर्मों की मूर्तियों

का चोटी तक विकास हुआ। यह स्वाभविक ही था, क्योंकि साहित्य और कलागत उन्नति सम्प्रदाय विशेष की नहीं होती। युग की होती है। कला का तब सर्वतोमुखी विकास हुआ। धातुकला, मूर्तिकला, मिट्टी की मूरती की कला, चित्रकला, सभी अपने चरम शिखर पर पहुँचे।

गुप्त-युग की खड़ी और बैठी बुद्ध की मूरतें संसार के कला के जानकारों के आश्चर्य हैं। मथुरा अजायबघर की ए. ५ नम्बर की खड़ी बुद्ध की मूर्ति शान्ति और गम्भीरता में अपना सानी नहीं रखती। जीवों को अभय प्रदान करती वह मूर्ति नासाग्र पर नेत्र टिकाये अद्‌भुत सन्तोष से खड़ी है। चीवर की लहरियां अत्यन्त हल्की हो गई हैं, मुखमण्डल अंडाकार है। इसी प्रकार धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा (धर्म का



चक्कर घुमाते हुए) में बैठी सारनाथ की बुद्ध मूर्ति भी शान्ति की अद्भूत काया है। उसके वस्त्र की लहरियां शरीर में खो गई हैं। ग्रीक कला के इस चिन्ह को भारतीय कलावन्तों ने शरीरगत कर भारतीयकरण की हद करदी। दोनों मूर्तियों के प्रभामंडल का काम अत्यन्त सुन्दर है। सुलतानगंज (भागलपुर) की साढ़े सात फुट ऊंची ताबे की बुद्ध मूर्ति जो अब इंग्लैण्ड के बर्मिघम म्यूजियम में है, मथुरा वाली मूर्ति की ही भांति अभयमुद्रा में खड़ी है। उसकी गम्भीरता और तुष्टि भी अनुपम है। ये तीनों संसार की सबसे सुन्दर बुद्ध मूर्तियां हैं।

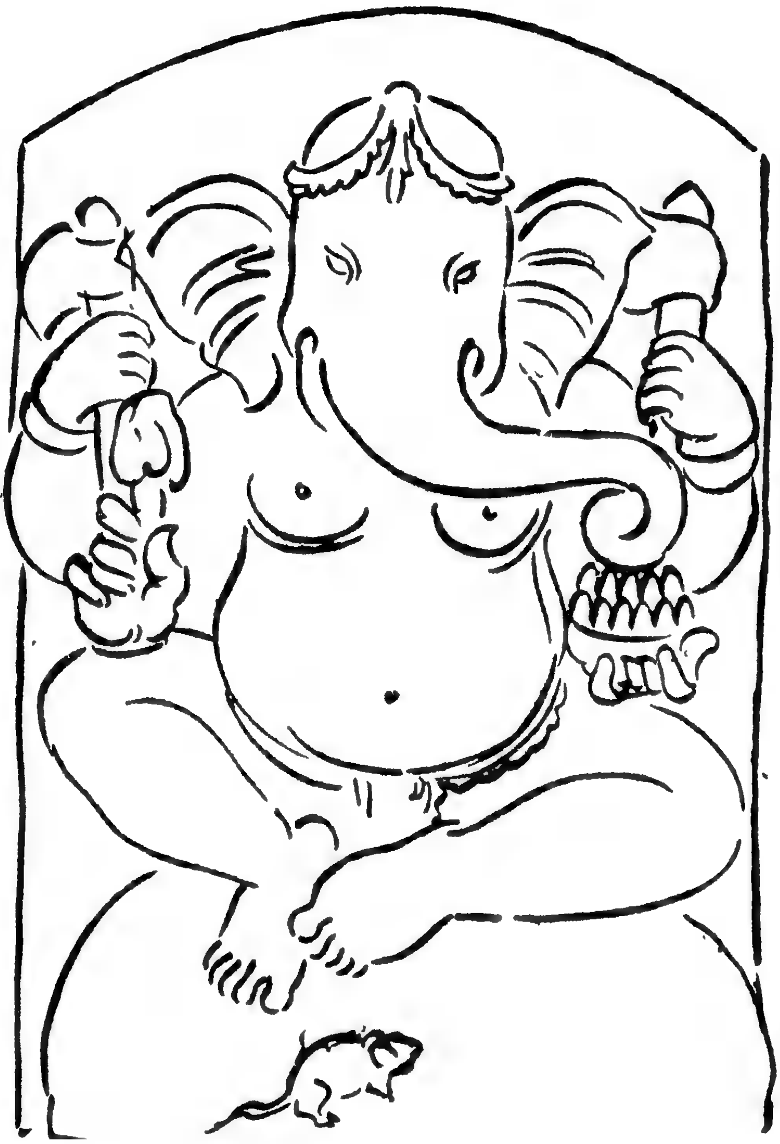
गुप्त सम्राट् विष्णु के भक्त थे और अपने को परम भागवत कहते थे। परन्तु धार्मिक सहिष्णुता में उनका दृष्टिकोण अशोक और अकबर का था। दूसरे सम्प्रदायों की उन्नति उन्होंने कभी नहीं रोकी। यही कारण है कि बौद्धों की सबसे महान् और सुन्दर मूर्तियां वैष्णव धर्म के मानने वाले गुप्तों के युग में बनीं। ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों का सुन्दर बनना तो स्वाभाविक ही था। उस काल विष्णु और शिव के मन्दिर भी एक से एक दर्शनीय बने पर अभाग्यवश आज उनमें से एक भी साबुत नहीं बचा है। फिर भी उनके खंडहरों और वहां से मिली मूर्तियों से ब्राह्मण-कला के सौन्दर्य का पता चला है।

झांसी जिले के पास देवगढ़ में एक गुप्त मन्दिर के खंडहर हैं। उसके बाहर दीवारों पर असामान्य सुन्दर देवताओं की मूरतें बनी हैं। इनमें *विशेषकर शेषशायी* विष्णु, राजेन्द्र मोक्ष, नर-नारायण आदि की तो असाधारण सजीवता लिये हुए हैं। नर और नारायण की मूरतें शरीर की कमनीयता और काया की सशक्त सुकुमारता में भारतीय कला में बेजोड़ हैं। कानपुर के पास के गुप्त-मन्दिर की ईंटें स्वयं प्रतिमाओं की तरह भांति-भांति से सजाई गई हैं। साचे से ढाली ये ईंटें रंग-बिरंगे फूलों और डिज़ाइनों से भजी हैं। इस प्रकार की ईंटे संसार में कहीं नहीं प्रयुक्त हुईं। उस मन्दिर की दीवारों पर खानेदार सजावट में, डेढ़-डेढ़, दो-दो फुट की मिट्टी की बनी चौखूंटी पट्टियों में उभरी देवताओं की मूर्तियों और रामायण-महाभारत के अत्यन्त सजीव दृश्य हैं। ये मट्टी की मूर्तियां अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। इनका एक सुन्दर संग्रह लखनऊ के अजायबघर में है। इसी प्रकार भेलसा के पास उदयगिरी में विष्णु के अवतार वाराह की शक्तिमान उभरी हुई मूर्ति है। वाराह ने अपनी दाढ़ पर पृथ्वी को अनायास उठा लिया है। मिट्टी की छोटी मूर्तियां तो हज़ारों नहीं लाखों में दिल्ली से बंगाल तक मिली हुई हैं और अपनी सुघराई में उसी प्रकार अद्वितीय हैं जैसे मथुरा और सारनाथ की

बुद्ध मूर्तियां। तांबे और धातु की मूर्तियों का एक बड़ा ढेर गया के पास कुर्किहार में मिला था। उनमें अनेक सुन्दर मूर्तियाँ गुप्तकाल की हैं जो पटने के अजायबघर में हैं।

गुप्तों ने लाटों की भी परम्परा लौटाई। कुतुब के पास खड़ी लोहे की लाट का जिक्र किया जा चुका है। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने पत्थर की एक लाट विष्णु की सेवा में गाजीपुर के पास सैदपुर भीतरी गांव के मैदान में खड़ी की और उस पर अपनी प्रशस्ति खुदवाई।

गुप्तकाल में ब्राह्मण पौराणिक धर्म की विशेष उन्नति हुई। आज का हिन्दू धर्म बहुत करके तभी का बना हुआ है। अनन्त देवी-देवता तब पूजा में व्यवहृत होने लगे। उनकी अनन्त मूर्तियां बनीं और देश में पूजी जाने लगीं। भूमरा, नचना और खोह के शिवमूर्तियों का संकेत ऊपर दिया जा चुका है। उनमें से खोह के शिव और भूमरा के गण इलाहाबाद के अजायबघर में रखे हुए हैं। इन गणों की विविध कौतुकी बौनी शक्लें मन को मोह लेती हैं। शिव और विष्णु के अतिरिक्त उनके परिवार के अनेक देवी-देवताओं की मूरतें भी गुप्तकाल में बनीं जो अजायबघर में आज भी देखी जा सकती हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, पार्वती, महिषासुरमर्दिनी, गंगा-जमुना, यम, कुबेर, गणेश, स्कन्द, कार्तिकेय, सप्तमातृकायें, ब्रह्मा आदि की अनगिनत



मूर्तियां गुप्त मूर्तिकला की निधियों में सुरक्षित हैं।

गुप्त कला अपनी सादगी, सुरुचि और सुकुमार काया से बड़ी आसानी से पहचानी जा सकती है। उभरा हुआ पूरा अंडाकार चेहरा, पतला जिस्म, सिर के घुंघराले बाल, सजीव मांस का आभास देने वाली बनावट से क्या पत्थर, क्या मिट्टी, क्या धातु सभी गुप्त मूर्तियां औरों से साफ

अलग हैं। तब लोग सिरों पर झूठे घुंघराले बाल भी पहनते थे। इन घुँघराले बालों के गुच्छे कन्धों पर गिरे रहते हैं। मिट्टी की छोटी मूरतों का अंडाकार उभार पीछे समाप्त हो गया है और मस्तक के ऊपर गोल शिखर में एक सुराख है जिससे सिद्ध है कि ये मस्तक भी शुंग-कुषाण कालीन ठीकरों की तरह तस्वीरों की भांति तब के श्रीमानों के कमरों में दीवारों पर टांगे जाते थे।

गुप्त सम्राटों की परम्परा स्कन्दगुप्त के बाद छठी सदी में समाप्त हो गई, यद्यपि मगध और मालवा में छोटे-छोटे गुप्त राजा सदियों राज्य करते रहे। फिर भी गुप्त कला की प्रधानता भारतीय कला के क्षेत्र में सदियों पीछे तक बनी रही। हूणों ने कला की भी काफी हानि की। प्राचीन मूर्तियाँ चूरचूर कर डालीं। पहले ब्राह्मण मूर्तियों को शक-कुषाणों ने तोड़कर बौद्ध मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी, अब हूणों ने दोनों को तोड़ा। खण्डित मूर्तियों से आज हमारे अजायबघर भरे पड़े हैं।

: १० :

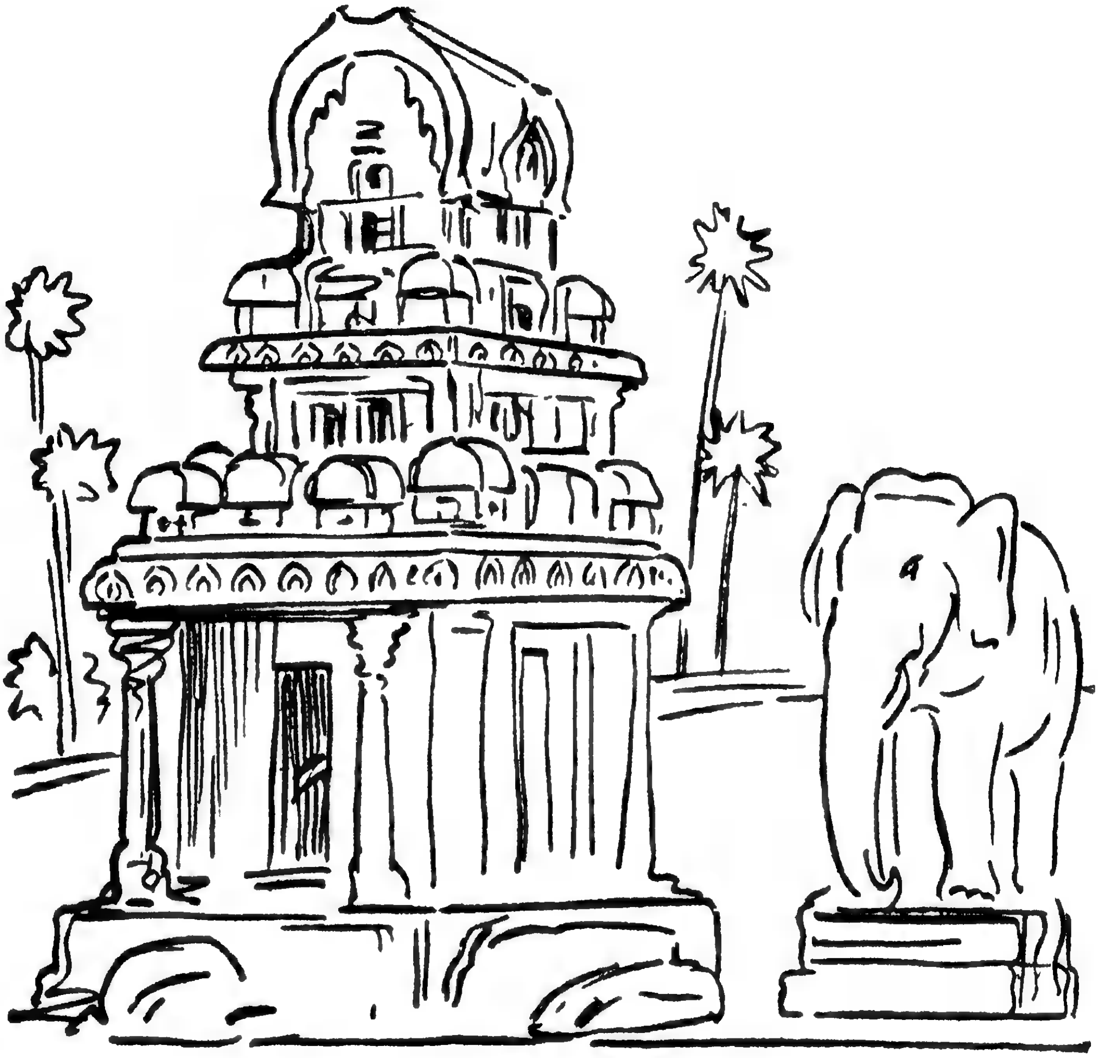
पूर्व मध्य-युग

भारतीय मध्य-युग ईस्वी ६०० और १२०० के बीच माना जाता है। ६०० ई० से ९०० ई० तक पूर्व मध्य-युग और ९०० ई० से १२०० ई० तक उत्तर मध्य-युग। यह काल स्वतन्त्र मूर्तियों का उतना नहीं जितना मन्दिरों की अलंकार-मूर्तियों का है। इनमें से पहले युग में तो पुराण, रामायण, महाभारत के दृश्य गुफा-मन्दिरों में खोदे गए, दूसरे में मन्दिरों के अधिकतर बहिरंग में या दीवारों पर अलंकार के रूप में मूरतों का निर्माण होता है। दोनों ही स्थिति में मूरतों को गहनों से सजाने की चलन बढ़ती जाती है। यह चलन पूर्व काल की अपेक्षा उत्तर काल में और अधिक बढ़ गई। देवी-देवताओं की संख्या में भी वृद्धि हुई है। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तीनों संप्रदायों की देव-संख्या में। अब तक कला का हृदय खो चुका है और उसके बाहरी आडम्बर भरे रूप का अधिकाधिक सिंगार होता है। यद्यपि इस काल भी अनेक सुन्दर मूर्तियां जब-तब मिल जाती हैं, पर अधिकतर यह काल मूर्ति-निर्माण का इतना

नहीं जितना मन्दिर-निर्माण का है। अवतारों की संख्या बढ़कर दस हो चुकी है, जिनमें बुद्ध को भी स्थान मिल गया है। वज्रयान और शाक्त-तांत्रिकों की पूजा के प्रचार से मन्दिरों के यौन और शृंगारी दृश्यों का घृणित रूपायन भी शुरू हो गया है।



यहां गुफा-मन्दिरों पर हमें विचार नहीं करना है, पर उनकी मूरतों की ओर संकेत करते समय उनका उल्लेख जरूरी हो जाता है। इनमें विख्यात एलोरा और एलिफेंटा के गुफा-मन्दिर और मामल्लपुर के 'रथ' हैं। तीनों में प्राचीन कांजीवरम् के पास की चट्टानों में कटे सातवीं सदी ईस्वी के पल्लव राजा महेन्द्र-वर्मन और नरसिंह वर्मन के



मन्दिर हैं जिन्हें 'रथ' कहते हैं। इन रथों के पौराणिक दृश्यों में सबसे महत्व का अट्ठानवे फुट लम्बा और तेंतालिस फुट चौड़ा भगीरथ की तपस्या वाला दृश्य है।

एलोरा की गुफाओं में ब्राह्मण, जैन, बौद्ध तीनों मन्दिर हैं, पर ब्राह्मण मन्दिर अधिक हैं। वहां की ३९ गुफा-मन्दिरों में प्रधान कैलास-मन्दिर है। उसमें अनेक दृश्य हैं पर रावण का कैलास पर्वत उठाने का दृश्य तो बड़ा

शक्तिम है। उसका निर्माण राष्ट्रकूट राजा कृष्ण ने आठवीं सदी ईस्वी में किया था। एलोरा अजन्ता की ही तरह उससे करीब ७५ मील दूर औरंगाबाद और दौलताबाद के पास



है। एलिफेंटा का गुफा-मन्दिर बंबई के पास है, समुद्र में आठवीं सदी का बना। वहां शिव-पार्वती की अनेक सुन्दर मूर्तियां हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध त्रिमूर्ति है, ब्रह्मा, विष्णु,



महेश की सम्मिलित मूर्ति। इन मूर्तियों और दृश्यों में बड़ी गति और सामर्थ्य है।

ईसा के एकाध सौ साल पहले से ही मध्य एशिया, बर्मा, स्याम, कम्बुज, जावा, सुमात्रा आदि में बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों का प्रचार शुरु हो गया था जो छठी-सातवीं



सदी ईस्वी तक होता रहा। वहां बुद्ध आदि की अनेक मूर्तियां बनीं। कम्बुज के अंगकोर वाट और थाम में बौद्ध सम्प्रदाय की अगणित और अनुपम मूर्तियां हैं। जावा के बोरोबोदुर और प्रंबनम के शिव-मन्दिरों में जो अद्भुत मूर्तियां बनी हैं उनका शुमार नहीं हो सकता। रामायण-महाभारत की कथाएं उनमें सजीव हो उठी हैं। इनके निर्माण का काल अधिकतर ६०० ई० से १२०० ई० तक है।

: ११ :

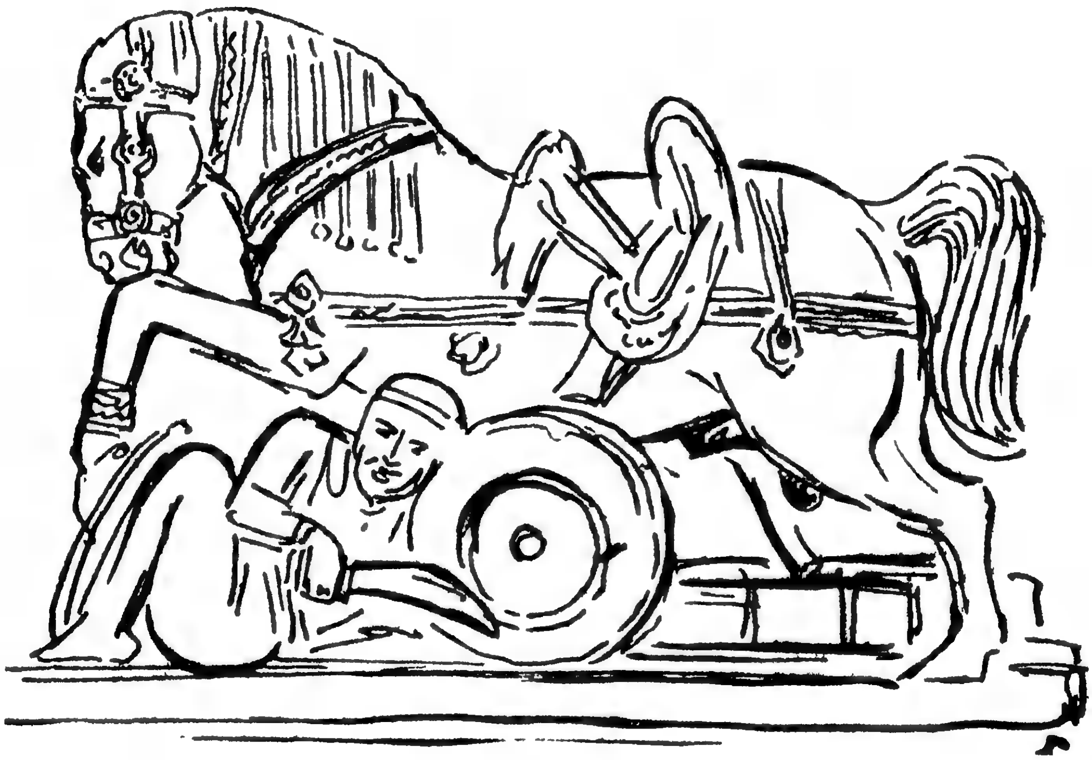
उत्तर मध्य-युग

उत्तर मध्य-युग में मन्दिरों की मूर्ति-सम्पदा बढ़ गई है, यद्यपि उस काल फुटकल मूर्तियों की भी कमी नहीं।



इनमें प्रधान उड़ीसा, बुन्देलखण्ड, गुजरात, राजस्थान और दक्खिन के मन्दिर हैं।

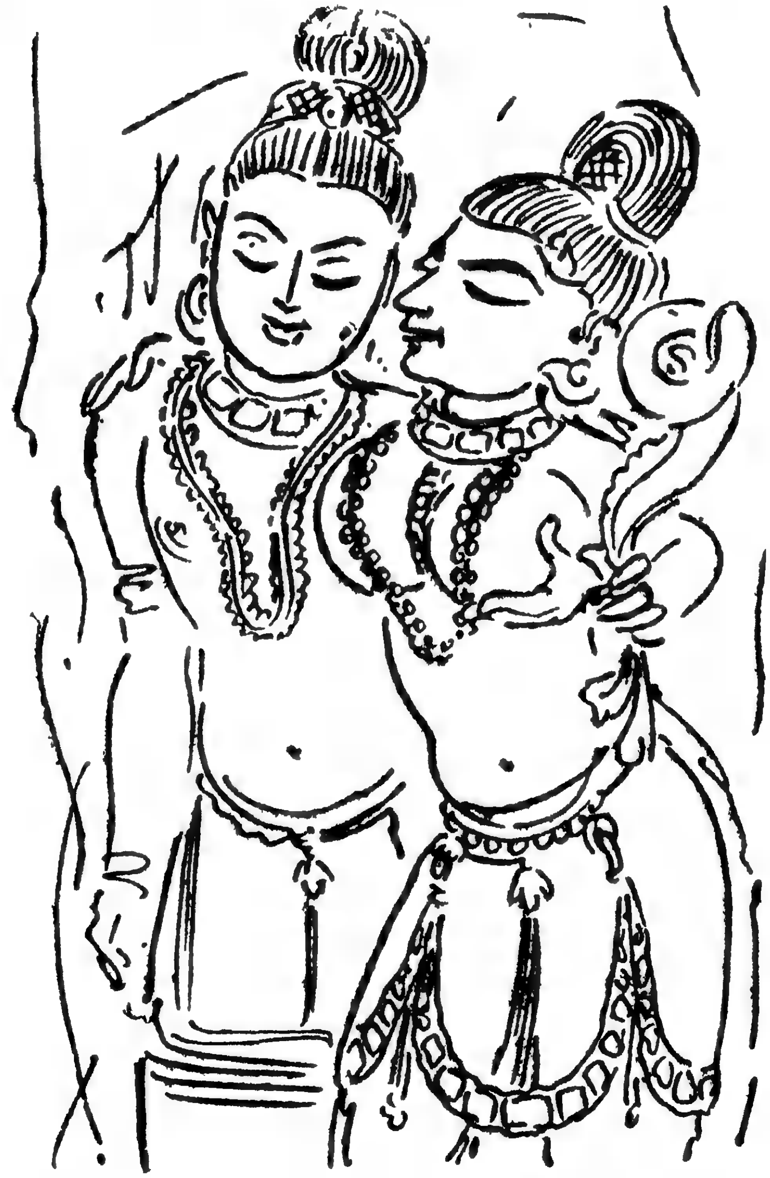
उड़ीसा के मन्दिरों में प्रधान भुवनेश्वर के शिव-मन्दिर कोणार्क का सूर्य-मन्दिर और जगन्नाथ-पुरी का विष्णु-मन्दिर है। तीनों पर सैंकड़ों यौन दृश्य खुदे हुए हैं।



स्पष्टतः इन पर वज्रयानी सिद्धों और शाक्त तांत्रिकों का प्रभाव है। भुवनेश्वर के मन्दिरों की अनेक नारी मूर्तियां, विशेषकर उनका केश-सिंगार, अत्यन्त सुन्दर है। कोणार्क के सूर्य के घोड़े, रथ के पहिये और ग्रहों की गति और सजीवता अद्वितीय हैं। पुरी के मन्दिर की मूर्तियां जरूर कला की

दृष्टि से बहुत हेय हैं। ये मन्दिर वारहवीं-तेरहवीं सदी ईस्वी में बने थे।

बुदेलखण्ड के खजुराहों में उस काल का सबसे विलक्षण कंडरियानाथ महादेव का मन्दिर है। मन्दिर का प्रत्येक भाग



गतिमान आकर्षक मूर्तियों से भरा है। उस पर भी अश्लील मूर्तियों की खासी तादाद है। गुजरात के मन्दिरों में सिद्धपुर

पाटन, गिरनार और सोमनाथ के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। सोमनाथ का मन्दिर महमूद गजनवी ने तोड़ डाला था। आबू पर्वत पर दिलवाड़ा में संगमरमर के जैन मन्दिर हैं जिनमें हजारों मूर्तियां और डिज़ाइनें हैं और प्रत्येक डिज़ाइन दूसरे से भिन्न है। पर इनका अलंकरण ही इनकी कला की हेयता का कारण बन गया है।

इस काल की मूर्तियां अधिकतर काले पत्थर या संगमरमर की बनी हैं, यद्यपि चुनार के पत्थर की बनी मूर्तियों की संख्या भी कुछ कम नहीं। नक्श उनके तीखे हैं, भंग (बल) उनके बढ़ गए हैं। उन्हें देखकर धातु या संगमरमर की बनी मूर्तियों के तीखेपन की याद आजाती है। विशेषकर पाल राजाओं के समय इस प्रकार की मूर्तियां विशेष बनीं। उनके समय की धातु की मूरतें प्रसिद्ध हैं। विष्णु और दूसरे अवतारों की मूर्तियां बढ़ जाती हैं। मूर्तियां, पत्थर में कटी होने पर भी अधिकतर चारों ओर से कोरकर बनाई गई हैं। फुटकल मूर्तियों में महोबा में मिलीं बोधिसत्व की मूरतें अद्भुत सुन्दर हैं, विशेषकर सिंहनाद अवलोकितेश्वर की मूर्ति तो कला की सफ़ाई में उस काल की मूर्तियों में अनुपम है। काले पत्थर की सरस्वती की मूर्ति त्रिभंग मुद्रा में अतीव सुन्दर खड़ी है। तीनों लखनऊ संग्रहालय में हैं।

: १२ :

दक्खिन की मन्दिर-मूर्तियाँ

उत्तर भारत में कला के विनाश का जो प्रारम्भ हूणों ने किया था, उसकी इति मुसलमानों ने की। अधिकतर मूर्तियों का बनना उत्तर में कम हो गया और उनका केन्द्र, अब दक्खिन बना। दक्खिन के गगनचुम्बी महान् मन्दिर इसके प्रमाण हैं। चोलों और पाण्ड्यों के तन्जोर और मडुरा के मन्दिर और होयशल राजाओं के मैसूर के मन्दिर उसकाल की मूर्तिसम्पदा से भरे पड़े हैं। इनमें दृश्यों की बहुतायत तो है ही, मूर्तियों में शक्ति और स्फूर्ति भी बेइन्तहा बढ़ गई है।

यह स्फूर्ति वास्तव में उस युग की स्फूर्ति है; जहां उत्तर उस काल सोया पड़ा था, शंकर और रामानुज और अनेक-अनेक शैव और वैष्णव सन्त जनता में अपने ज्ञान के नए प्राण फूँक रहे थे। उस काल के मूर्ति-जगत् और कला क्षेत्र में सबसे सजीव कल्पना नटराज की है। शिव का काल-पुरूष पर खड़े होकर सृष्टि और प्रलय का ताण्डव संसार के कला-क्षेत्र में अद्वितीय है। चतुर्भुज शिव एक हाथ में डमरू, दूसरे में अंधकार दूर करने वाली ज्वाला



ग्रौर ग्रशिव जलाने वाली ग्रग्नि की लपट लिये, बाकी दोनों हाथों को ग्रभय ग्रौर वरदान मुद्रा में धारण किये प्रबल



वेग से नाच रहे हैं। शान्ति की स्थिति से धीरे-धीरे पैर उठता है, गतिमान होता है, गति अत्यन्त वेगवान् होकर अपनी तीव्रता के कारण लट्टू की तरह एक पैर पर सहसा

केन्द्रित हो जाती है। नटराज शिव निश्चय कला की पराकाष्ठा है।

पत्थर और धातु की हज़ारों नटराज-मूर्तियाँ आज दक्खिन में भरी पड़ी हैं। इनका अत्यन्त सुन्दर संग्रह अमेरिका के बोस्टन म्यूज़ियम में है। परन्तु ताण्डव-नृत्य करते नटराज शिव की सबसे वेगवान्, सबसे उत्कृष्ट, सबसे अद्‌भुत मूर्ति तंजौर के बृहदीश्वर मन्दिर में है।

: १३ :

वर्तमान-युग

आज भी भारत में मूर्तियाँ बनती हैं, क्योंकि आज भी मूर्तिप्राण उपासकों या उनके मन्दिरों की कमी नहीं। पर आज की मूर्तियों में न कला की सजीवजा है, न सौन्दर्य। उनमें आकृति है, पर आत्मा नहीं है, वे निष्प्राण हैं। जयपुर में आज भी मन्दिरों में पधराने के लिए मूर्तियां बनती हैं पर वे कला का उपहास करती हैं, उसका विकास नहीं। वे न तो पुरानी परम्परा में हैं, न नई।

डेढ़ सौ साल के विदेशी शासन ने राष्ट्रीयता और स्वदेशी कला के प्रति जागरुकता मिटा दी थी और नवीन विदेशी प्रतीकों को समझने या उनके अनुकरण तक की सामर्थ्य न रह गई थी। तब अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी प्राचीन विरासत की याद दिलाई। देश में कुछ काल से ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज आदि के सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे, जिन्होंने अपनी प्राचीन दाय की याद दिलाई और एक खासा आन्दोलन ही उठ खड़ा हुआ। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और हैवेल ने प्राचीन मूर्तियों और चित्रों की ओर उदीयमान कलाकारों का ध्यान आकृष्ट किया। पर जहाँ चित्रकला के क्षेत्र में अजन्ता की नक़ल में देशव्यापी लहर उठी, उन्हीं के शिष्यों ने

प्राचीन प्ररम्परा में सैकड़ों सुन्दर चित्र बनाये, मूर्तिकला का क्षेत्र प्रायः सूना ही पड़ा रहा।



उधर यूरोप में चित्रों की ही भांति मूर्तिकला में भी अनेक प्रयोग होते रहे। इम्प्रेशनिज़्म, क्युबिज़्म, फ्यूचरिज़्म, सुर्रियलिज़्म, आदि के बाद कला में सोशल रियलिज़्म

(समाजिक यथार्थवाद) का प्रादुर्भाव हुआ, पर भारत के कलाकार मूर्ति निर्माण में सर्वथा पिछड़े रहे। देवी प्रसाद राय चौधरी और प्रभातरंजन खास्तगीर ने आधुनिक मानस मूर्तियाँ बनानी शुरू कीं। खास्तगीर ने बस्टों के साथ ही कल्पना और स्वप्न के कुछ प्रतीक सिरजे, परन्तु इनका संपर्क न तो यूरोप में चलने वाले कला सम्बन्धी प्रयोगों से हुआ न स्वदेश के प्रगतिशील आन्दोलनों से। महापात्र और कुछ अन्य नए साधकों ने यद्यपि हाथों की सफाई मिट्टी और पत्थर की कृतियों में दिखाई, पर वास्तव में वे नक़ल पर नक़ल उतारते गए, असल से दूर रहे।

यथार्थ के दर्शन, कल्पना और मूर्तन न कर सकने वाला कलाकार वर्तमान में जीवित न रहकर भूतकाल के प्रेत का जीवन बिताता है। अपने चारों ओर देखने वाला जागरुक कलाकार वास्तव में जीवित है, क्योंकि वह यथार्थ सत्य की आराधना करता है। यदि वह जनता के साथ कदम मिलाता चले तो हरगिज़-हरगिज़ मर नहीं सकता। ऐसे कलाकार भारत में आज कम हैं, पर शान्ति-निकेतन विश्वभारती का सफल मूर्तिकार रामकिंकर बैज निश्चय यथार्थ की ओर कदम उठाने वाला पहला कलाकार है। उपेक्षित कंकाल जनता की गहरी अनुभूति का धनी रामकिंकर असाधारण सहृदयता और संवेदनशीलता से अपनी

छेनी का आज प्रयोग कर रहा है। काश अन्य कलावन्त भी उसकी दिखाई दिशा की ओर अग्रसर होते।

